मानव Vol. 16-17 1988-89 No 1,4,3,4

वर्ष-१६ ★ अंक-१

जनवरी-मार्च

१९८८

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

मानव
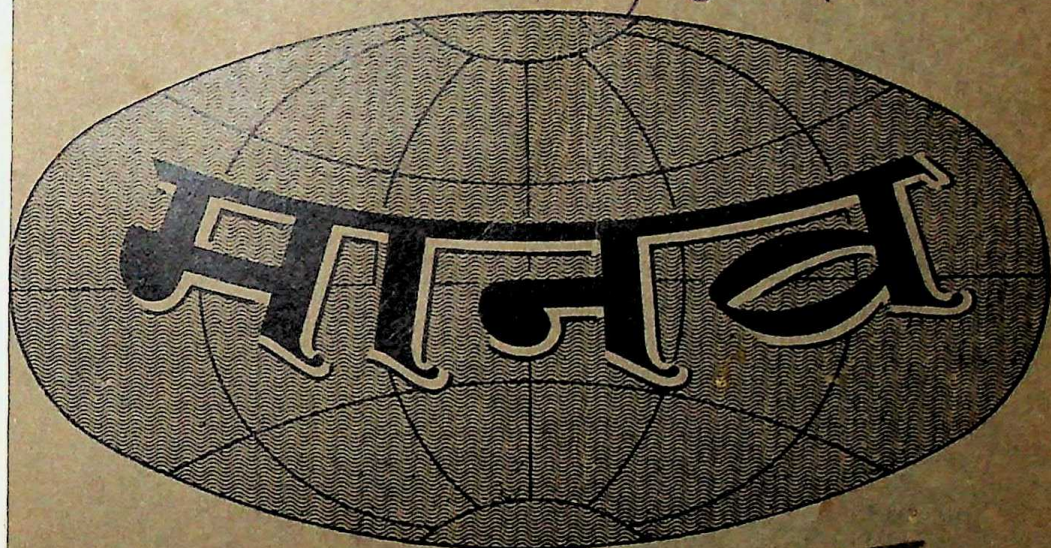
(त्रैमासिक)

प्रकाशक— एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

संपादक— उमाशंकर मिश्र

सह-संपादक— डा० रघुराज गुप्त

प्रबंध संपादक— श्री प्रभात कुमार तिवारी

सहायक-संपादक— डा० नदीमुल हसनैन
श्री ललित किशोर मिश्र

संपादकीय परामर्शदाता— श्री बी० डी० सनवाल, डा० ब्रह्मदेव शर्मा, डा० श्यामा चरण दुबे, डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र, श्री हरी सहाय सक्सेना, डा० इन्द्र देव, प्रो० अवध किशोर शरण

'मानव' में मानवविज्ञान एवं अन्य सम्बन्धित विषयों पर मूल शोध पत्र, प्रामाणिक मूल लेखों के अनुवाद एवं पुस्तक समीक्षायें आदि प्रकाशित होती हैं।

वार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए स्वदेश में ६० रु०
विदेशों में २० डालर
अथवा समकक्ष अन्य विदेशी मुद्रायें
(सोसायटी के सदस्यों को अर्ध शुल्क पर प्राप्य)
वैयक्तिक ५० रु०; विद्यार्थियों के लिये विशेष सुविधा—३० रु० वार्षिक

संपर्क सूत्र—
संपादक 'मानव', एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी
पोस्ट बाक्स २०१, ७ ए, रामकृष्ण मार्ग, फैजाबाद रोड, लखनऊ—२२६ ००७

पनार मुद्रक, लखनऊ में मुद्रित

मानव

त्रैमासिक

वर्ष : १६ जनवरी–मार्च १९८८ अंक : १

इस अंक में

आदिवासी स्तम्भ

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ की १९८८ की कार्यकारिणी

अध्यक्ष : श्री भैरोंदत्त सन्वाल

उपाध्यक्ष : प्रो० एस० सी० दुबे (भोपाल), प्रो० एस० सी० तिवारी (दिल्ली) प्रो० वीरेन्द्र नाथ मिश्र (पुणे), श्री भवानी शंकर शुक्ल (लखनऊ) श्री विदु शेखर शुक्ल (लखनऊ)

मंत्री : डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (लखनऊ)

कोषाध्यक्ष : श्री जे० एन० शुक्ल (लखनऊ)

संयुक्त मंत्री : डा० ए० एस० तिवारी (लखनऊ), डा० ए० जे० मुखर्जी (लखनऊ)

सहायक मंत्री : डा० आर० शर्मा, श्री वाई० एन० वर्मा, श्रीमती इन्द्रा मेहता

निर्वाचित सदस्य : डा० आर० एस० मन (देहरादून), श्री जी० एस० भट्ट (देहरादून) डा० ए० के० पाण्डेय (अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह), डा० मालती नागर (पुणे), प्रो० जे० सी० शर्मा (चण्डीगढ़), श्री दिबाकर बसक (भुवनेश्वर), डा सुनील आर० कामरा (जबलपुर), डा० जी० एस० हैलन् (मेरठ), श्री पी० के० तिवारी (लखनऊ), डा० मन्जू शुक्ल (कानपुर), डा० नदीमुल हसनैन (लखनऊ), श्री जे० पी० मिश्र (लखनऊ), डा० डी० एन० सक्सेना (लखनऊ), डा० अग्ने लाल (लखनऊ)

पदेन सदस्य : सम्पादक–दी ईस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट
सम्पादक–मानव
सम्पादक–इण्डियन जरनल आफ फिजिकल एन्थ्रोपोलॉजी एण्ड ह्यूमैन जेनेटिक्स
निदेशक–डी० एन० मजूमदार म्यूजियम आफ फोक आर्ट

मानव प्रबन्धक समिति के सम्मानित सदस्य

श्री भैरोंदत्त सनवाल (अध्यक्ष–पदेन सदस्य)
श्री विधु शेखर शुक्ल
श्री श्रीष चन्द्र
श्री हरि सहाय सक्सेना
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
श्री जे० एन० शुक्ल (कोषाध्यक्ष–पदेन सदस्य)
डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (मंत्री–पदेन सदस्य)
श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–पदेन सदस्य)

प्नार मुद्रक, ११७ नजीराबाद, लखनऊ में मुद्रित

मानव

त्रैमासिक

वर्ष : १६ अक्तूबर–दिसम्बर १९८८ अंक : ४

इस अंक में

समीक्षात्मक लेख

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ की १९८८ की कार्यकारिणी

अध्यक्ष : श्री भैरोंदत्त सन्वाल

उपाध्यक्ष : प्रो० एस० सी० दुबे (भोपाल), प्रो० एस० सी० तिवारी (दिल्ली) प्रो० वीरेन्द्र नाथ मिश्र (पुणे), श्री भवानी शंकर शुक्ल (लखनऊ) श्री विदु शेखर शुक्ल (लखनऊ)

मंत्री : डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (लखनऊ)

कोषाध्यक्ष : श्री जे० एन० शुक्ल (लखनऊ)

संयुक्त मंत्री : डा० ए० एस० तिवारी (लखनऊ), डा० ए० जे० मुखर्जी (लखनऊ)

सहायक मंत्री : डा० आर० शर्मा, श्री वाई० एन० वर्मा, श्रीमती इन्द्रा मेहता

निर्वाचित सदस्य : डा० आर० एस० मन (देहरादून), श्री जी० एस० भट्ट (देहरादून) डा० ए० के० पाण्डेय (अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह), डा० मालती नागर (पुणे), प्रो० जे० सी० शर्मा (चण्डीगढ़), श्री दिवाकर बसक (भुवनेश्वर), डा सुनील आर० कामरा (जबलपुर), डा० जी० एस० हैलन् (मेरठ), श्री पी० के० तिवारी (लखनऊ), डा० मन्जू शुक्ल (कानपुर), डा० नदीमुल हसनैन (लखनऊ), श्री जे० पी० मिश्र (लखनऊ), डा० डी० एन० सक्सेना (लखनऊ), डा० अग्ने लाल (लंखनऊ)

पदेन सदस्य : सम्पादक–दी ईस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट
सम्पादक–मानव
सम्पादक–इण्डियन जरनल आफ फिजिकल एन्थ्रोपोलॉजी एण्ड ह्यूमैन जेनेटिक्स
निदेशक–डी० एन० मजूमदार म्यूजियम आफ फोक आर्ट

मानव प्रबन्धक समिति के सम्मानित सदस्य

श्री भैरोंदत्त सनवाल (अध्यक्ष–पदेन सदस्य)
श्री विधु शेखर शुक्ल
श्री श्रीष चन्द्र
श्री हरि सहाय सक्सेना
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
श्री जे० एन० शुक्ल (कोषाध्यक्ष–पदेन सदस्य)
डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (मंत्री–पदेन सदस्य)
श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–पदेन सदस्य)

पूनार मुद्रक, ११७ नजीराबाद, लखनऊ में मुद्रित

मानव

त्रैमासिक

वर्ष : १७ जुलाई–सितम्बर १९८९ अंक : ३

इस अंक में

जनजातीय-मंच

संक्षिप्त-आलेख

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

१६८६ की कार्यकारिणी

अध्यक्ष : श्री भैंरोदत्त सन्वाल

उपाध्यक्ष : प्रो० एस० सी० दुबे (दिल्ली), प्रो० एस० सी० तिवारी (दिल्ली)
प्रो० वी० एन० मिश्र (पुणे), श्री भवानी शंकर शुक्ल (लखनऊ)
श्री विधु शेखर शुक्ल (लखनऊ)

मंत्री : डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (लखनऊ)

कोषाध्यक्ष : श्री जे० एन० शुक्ल (लखनऊ)

संयुक्त मंत्री : डा० ए० एस० तिवारी (लखनऊ)

सहायक मंत्री : डा० ए० जे० मुखर्जी, श्रीमती इन्द्रा मेहता, श्रीमती रचना श्रीवास्तव, श्री उदय प्रताप सिंह

सदस्य : प्रो० जी० सी० हेलन (मेरठ), डा० सुनील मिश्र (दिल्ली), डा० वी० पी० सिंह (वाराणसी), डा० श्रीमती कुन्तेश गुप्त (सीतापुर), श्री दिवाकर बसक (भुवनेश्वर), श्री दीपक त्यागी (मैसूर), श्री प्रभात कुमार तिवारी (लखनऊ), श्री श्रीषचन्द्र (लखनऊ), डा० आभा अवस्थी (लखनऊ), श्री चन्द्रसेन (लखनऊ), डा० पी० एन० शर्मा (लखनऊ), डा० (श्रीमती) सुधा रस्तोगी (लखनऊ)

पदेन सदस्य : सम्पादक—दी ईस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट
सम्पादक—मानव
सम्पादक—इण्डियन जरनल आफ फिजिकल एन्थ्रोपोलॉजी एण्ड ह्यूमैन जेनेटिक्स
निदेशक--डी० एन० मजूमदार म्यूजियम आफ फोक आर्ट

मानव प्रबन्धक समिति के सम्मानित सदस्य

श्री भैरोंदत्त सनवाल (अध्यक्ष–पदेन सदस्य)
श्री विधु शेखर शुक्ल
श्री श्रीषचन्द्र
श्री हरि सहाय सक्सेना
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
श्री जे० एन० शुक्ल (कोषाध्यक्ष–पदेन सदस्य)
डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (मंत्री–पदेन सदस्य)
श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–पदेन सदस्य)

प्नार मुद्रक, ११७ नजीराबाद, लखनऊ में मुद्रित

मानव

त्रैमासिक

वर्ष : १७ अक्तूबर–दिसम्बर १९८९ अंक : ४

इस अंक में

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

१९८९ की कार्यकारिणी

अध्यक्ष : श्री भैरोदत्त सन्वाल

उपाध्यक्ष : प्रो० एस० सी० दुबे (दिल्ली), प्रो० एस० सी० तिवारी (दिल्ली)
प्रो० वी० एन० मिश्र (पुणे), श्री भवानी शंकर शुक्ल (लखनऊ)
श्री विधु शेखर शुक्ल (लखनऊ)

मंत्री : डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (लखनऊ)

कोषाध्यक्ष : श्री जे० एन० शुक्ल (लखनऊ)

संयुक्त मंत्री : डा० ए० एस० तिवारी (लखनऊ)

सहायक मंत्री : डा० ए० जे० मुखर्जी, श्रीमती इन्द्रा मेहता, श्रीमती रचना श्रीवास्तव, श्री उदय प्रताप सिंह

सदस्य : प्रो० जी० सी० हेलन (मेरठ), डा० सुनील मिश्र (दिल्ली), डा० वी० पी० सिंह (वाराणसी), डा० श्रीमती कुन्तेश गुप्त (सीतापुर), श्री दिवाकर बसंक (भुवनेश्वर), श्री दीपक त्यागी (मैसूर), श्री प्रभात कुमार तिवारी (लखनऊ), श्री श्रीषचन्द्र (लखनऊ), डा० आभा अवस्थी (लखनऊ), श्री चन्द्रसेन (लखनऊ), डा० पी० एन० शर्मा (लखनऊ), डा० (श्रीमती) सुधा रस्तोगी (लखनऊ)

पदेन सदस्य : सम्पादक—दी ईस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट
सम्पादक—मानव
सम्पादक—इण्डियन जरनल आफ फिजिकल एन्थ्रोपोलॉजी एण्ड ह्यूमैन जेनेटिक्स
निदेशक—डी० एन० मजूमदार म्यूजियम आफ फोक आर्ट

मानव प्रबन्धक समिति के सम्मानित सदस्य

श्री भैरोंदत्त सनवाल (अध्यक्ष–पदेन सदस्य)
श्री विधु शेखर शुक्ल
श्री श्रीषचन्द्र
श्री हरि सहाय सक्सेना
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
श्री जे० एन० शुक्ल (कोषाध्यक्ष–पदेन सदस्य)
डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (मंत्री–पदेन सदस्य)
श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–पदेन सदस्य)

पुनार मुद्रक, ११७ नजीराबाद, लखनऊ में मुद्रित

भारतीय महिलाओं का रोजगार के क्षेत्र में परिवर्तनोन्मुख स्थान

राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल

आर्थिक क्रिया-कलापों में भाग लेना भारतीय महिलाओं के लिए कोई नवीन बात नहीं वे प्राचीन काल से ही कृषि, उत्पादन तथा सेवा कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेती रही हैं। यह अन्य बात है कि उनके कार्यों को समाज द्वारा विशेष कर पुरुषों द्वारा उचित मान्यता प्रदान नहीं की गयी तथा उनको समाज के केवल उन्हीं कार्यों में लगाया गया जो अपेक्षाकृत निम्न स्तर के माने जाते रहे हैं। उनको अपने कार्यों का अलग से पारिश्रमिक या तो मिलता ही नहीं था, और यदि मिलता भी था तो बहुत कम। उनको प्रायः पुरुषों के सहायतार्थ अतिरिक्त श्रमिक के रूप में मान लिया जाता था। महिलाओं के कार्यों की प्रकृति प्रायः देश में व्याप्त सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक दशाओं पर निर्भर करती है। आजकल महिलाओं द्वारा आर्थिक-क्रियाकलापों में सहभाग की दर को देश के आर्थिक विकास का एक सूचक भी माना जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यदि किसी देश में आर्थिक विकास की गति तीव्र हो तो वहाँ महिलाओं की आर्थिक स्थिति में भी तीव्रता से सुधार होगा ही।

विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों में महिलाओं द्वारा सक्रिय रूप से सभी प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलापों में भाग लेना एक साधारण बात हो चुकी है। परन्तु अभी भारत में ऐसा सम्भव नहीं हो पाया है। भारत को आर्थिक रूप से एक विकासशील राष्ट्र माना जाता है। यद्यपि भारतीय संविधान की धारा १६ (१) और १६ (२) के द्वारा महिलाओं को पुरुषों के बराबर ही बिना किसी भेद-भाव के रोजगार के समान अधिकार प्रदान किये गये हैं, फिर भी यह देखने में आता है कि रोजगार के सभी क्षेत्रों में महिलाएँ अभी भी पुरुषों से बहुत पीछे हैं, तथा वे केवल कुछ विशेष क्षेत्रों में ही अधिक सक्रिय हैं। अधिकांश महिलायें यहाँ कृषि अथवा कृषि से सम्बन्धित कार्यों में संलग्न हैं। शिक्षा के प्रसार ने, विशेष-

राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल, प्रवक्ता, समाजशास्त्र, डी० ए० वी० डिग्री कॉलेज, वाराणसी (काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय से सम्बद्ध), वाराणसी।

कर नगरीय क्षेत्रों में, महिलाओं के लिये रोजगार के अनेक नवीन अवसर प्रदान किये हैं। उदाहरण के लिये वे टंकण, लिपिकीय, प्रशासकीय तथा प्रोफेशनल कार्यों में अधिक से अधिक संख्या में प्रवेश कर रही हैं। यहां तक कि वे अब अत्यधिक पुरुष प्रधान क्षेत्रों जैसे प्रौद्योगिकी, कानून, विज्ञान इत्यादि के क्षेत्रों में भी प्रवेश कर रही हैं। लेकिन जैसा कि हम आगे देखेंगे, भारतीय महिलाओं की आर्थिक-जगत के प्रत्येक क्षेत्र में न तो सन्तोषप्रद सहभागिता है और न ही उचित स्थान। उनकी स्थिति रोजगार के लगभग सभी क्षेत्रों में निम्न तथा असन्तोषजनक है। जबकि शिक्षा के क्षेत्र में वे अभूतपूर्व उन्नति कर चुकी हैं। ऐसा पाया गया है कि आर्थिक कारण महिलाओं द्वारा कार्य करने का एक प्रमुख कारण है।[१] परन्तु कुछ महिलायें ऐसी भी हैं जो अपने खाली समय को व्यतीत करने के लिये कुछ अंशकालीन कार्य कर लेती हैं। उनके लिये आर्थिक कारकों का महत्व अपेक्षाकृत कम है।[२] महिलाओं द्वारा आर्थिक गतिविधियों में सहभागिता उनकी जाति, वर्ग, ग्रामीण-नगरीय पृष्ठभूमि, शिक्षा, पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा परिवार एवं समुदाय के लोगों का महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।[३]

महिलाओं द्वारा आर्थिक गतिविधियों में सहभागिता की प्रकृति

भारतवर्ष एक विभिन्नताओं से भरपूर देश है। इसलिये यहाँ विभिन्न क्षेत्रों तथा वर्गों की महिलाओं द्वारा आर्थिक सहभागिता की प्रकृति एवं दर भिन्न-भिन्न है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि यहाँ अधिकांश महिलायें कृषि अथवा कृषि से सम्बन्धित उद्योग धन्धे में संलग्न हैं। योजना आयोग के अनुसार वर्ष १९७८ में भारत में कुल ८.८९ करोड़ महिलायें आर्थिक रूप से क्रियाशील थीं। उनमें से ७.७५ करोड़ (८७.१६ प्रतिशत) महिलायें केवल ग्रामीण क्षेत्रों में ही सक्रिय थी तथा वे मूलतः रोजगार के असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत थी। केवल २५ लाख (२.९ प्रतिशत) महिलाएँ ही संगठित क्षेत्रों में कार्य कर रही थीं। पुष्पा सुन्दर[५] के अनुसार असंख्य ऐसी भी महिलायें ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत हैं जो अपने गृह-कार्यों के अतिरिक्त कृषि तथा अन्य उत्पादन कार्यों में सक्रिय सहायता प्रदान करती हैं, परन्तु उनकी गणना हम पूर्णकालीन रोजगारी महिलाओं में नहीं करते हैं, तथा उनको अपने कार्यों का पृथक पारिश्रमिक भी नहीं प्रदान किया जाता है। योजना आयोग[६] के अनुसार इस प्रकार की महिलाओं की अनुमानित संख्या वर्ष १९७२-७३ में लगभग ३.५ करोड़ अथवा कुल कार्यरत महिलाओं का लगभग ४५ प्रतिशत था। ऐसा भी पाया गया है कि ग्रामीण महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक प्रकार के कार्यों में संलग्न होती हैं, लेकिन इनमें से कुछ ही प्रकार के कार्य ऐसे होते हैं जो बाजारतंत्र में प्रवेश कर पाते हैं। अर्थात ये कार्य ऐसे होते हैं जो आर्थिक उत्पादन में सहायता तो करते हैं लेकिन इनके लिये किसी प्रकार का पारिश्रमिक नहीं दिया जाता है। अधिकांशतः ऐसे कार्य अस्थायी प्रकृति के होते हैं। उदाहरण के लिए खाद्यान्नों की सफाई करना, बिनना, बटोरना, काटना इत्यादि।[७] इन कार्यों को परोक्ष कार्य कहा जा सकता है जो महिलाओं की भूमिका एवं उनके श्रम को उपेक्षित करते आ रहे हैं। यह समस्या लगभग सभी विकासशील देशों में व्याप्त है।

महिलाओं के रोजगार से सम्बन्धित एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि प्रायः विकासशील देशों में व्याप्त प्रतिकूल सामाजिक पूर्वाग्रहों तथा अभिवृत्तियों के कारण विशाल संख्या में कुशलता सम्पन्न एवं दक्ष महिलायें अपनी क्षमता का भरपूर उपयोग नहीं कर पा रही हैं। इनको 'बेरोजगार' की श्रेणी में गिना जाता है तथा शिक्षित होने के बावजूद ये कार्य नहीं करना चाहती हैं। ऐसा इसलिये है कि ये श्रम-बाजार में प्रवेश करने का साहस नहीं जुटा पाती हैं। उनका समाजीकरण कुछ इस प्रकार का हुआ है कि वे कभी भी घर से बाहर जाकर नियमित रूप से वेतन भोगी कर्मचारी बनने की अपेक्षा नहीं करती। श्रम-बाजार में व्याप्त प्रतियोगिता, भेदभाव पूर्वाग्रह तथा श्रम-बाजार का पुरुष-प्रधान होना उनके सामाजिक प्रतिष्ठा के विपरीत माना जाता है।

समाजशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों में परिभाषाओं, संप्रत्ययों तथा महिलारोजगार के मानक मापदण्डों की अस्पष्टता के कारण अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। इसका एक उदाहरण हमें वर्ष १९६१ तथा वर्ष १९७१ की जनगणनाओं में विभिन्न रूपों में 'कर्मी' शब्द की परिभाषाओं में मिलता है। वर्ष १९६१ की जनसंख्या में 'आर्थिक रूप से सक्रिय' तथा 'आर्थिक रूप से असक्रिय' दोनों प्रकार की श्रेणियों के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों को 'कर्मी' माना गया जबकि वर्ष १९७१ की जनगणना में केवल उन्हीं व्यक्तियों को 'कर्मी' माना गया जो 'मुख्यतः किसी आर्थिक उत्पादन' की प्रक्रिया में मानसिक अथवा शारीरिक रूप से भाग लेते हों। इस श्रेणी में वे व्यक्ति भी सम्मिलित हैं जो निर्देशन तथा पर्यवेक्षण का कार्य करते हैं। इस प्रकार से वर्ष १९७१ की जनगणना में वर्ष १९६१ की जनगणना से भिन्न परिभाषा को अपनाने के कारण महिलाओं के 'रोजगार-संलग्नता' की दर में भारी कमी परिलक्षित होती है। वर्ष १९६१ की जनगणना के अनुसार 'कार्यरत पुरुष जनसंख्या' (Working male population) १२.९२ करोड़ थी जो वर्ष १९७१ में बढ़कर १४.९१ करोड़ हो गई। इस प्रकार से 'कार्यरत पुरुष जनसंख्या में एक दशक में १५.४० प्रतिशत की वृद्धि अंकित की गई दूसरी ओर १९६१ में 'कार्यरत महिला जनसंख्या' (Working female population) ५.९५ करोड़ थी जो कि १९७१ में घट कर मात्र ३.१३ करोड़ रह गयी। इस प्रकार से 'कार्यरत महिला जनसंख्या' में ४९.३९ प्रतिशत की कमी आयी। इसके विपरीत 'कार्यरहित पुरुष जनसंख्या (Non-working male population) वर्ष १९६१ में ९.७० करोड़ पायी गयी जो कि १९७१ में बढ़कर १३.४८ करोड़ हो गई। परन्तु 'कार्यरहित महिला जनसंख्या' (Non-working female population) में इस बदली हुयी परिभाषा के कारण असाधारण वृद्धि परिलक्षित हुई। यह वर्ष १९६१ की जनगणना के अनुसार १५.३३ करोड़ थी जो कि वर्ष १९७१ में बढ़कर २३.२७ करोड़ हो गई। इस प्रकार से 'कार्यरहित महिलाओं' की संख्या में वृद्धि ५१.८२ प्रतिशत अंकित की गई, जबकि 'कार्यरहित पुरुषों' की संख्या में वृद्धि मात्र ३८.९७ प्रतिशत ही अंकित की गई।[६] कुछ महिला समाजशास्त्रियों का कथन है कि 'कार्यरहित महिलाओं' की संख्या में यह वृद्धि मात्र पारिभाषिक विभिन्नताओं के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि आर्थिक जगत के कुछ क्षेत्रों में महिलाओं की सहभागिता में वास्तविक

ह्रास भी हुआ है। उदाहरण के लिये परम्परागत रूप से महिलापरक व्यवसायों जैसे बागवानी, मुर्गी-पालन, खाद्यान्न-परिष्करण, पशुपालन तथा पटसन उद्योग इत्यादि क्षेत्रों में कार्यरत महिलाओं के अनुपात में कमी आयी है। राष्ट्रीय निदर्शन सर्वेक्षण के सत्ताइसवें (१९७२-७३) प्रतिवेदन के अनुसार देश में लगभग ६३ रोजगार उस क्षेत्र से है जिनमें महिलाओं की संख्या और उनका अनुपात घट रहा हैं।[९]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महिलाओं में 'रोजगार' या 'बेरोजगारी', 'कार्यशीलता' 'कार्यरहितता', जैसे संप्रत्ययों में पारिभाषिक अस्पष्टताओं के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं। इस कारण उनके सही अनुमान में बाधा उत्पन्न हो रही है। किसी भी प्रकार के सांख्यकीय अथवा सैद्धान्तिक विवेचन के लिये आवश्यक है कि इन अस्पष्टताओं को यथाशीघ्र दूर किया जाय तथा एक समरूप पारिभाषिका को विकसित किया जाय।

पुरुषों और महिलाओं के लिये कार्यरत रहने के कारण भिन्न भिन्न हो सकते हैं। महिलाओं को कार्य करने का कारण केवल आर्थिक न होकर अन्य भी हो सकते हैं, लेकिन पुरुषों के मामलों में अर्थोपार्जन ही कार्यरतता का प्रमुख कारण बतलाया गया है।[१०] आर्थिक कारणों के अतिरिक्त महिलाओं द्वारा नियमित रूप से रोजगार अपनाने के निम्नलिखित अन्य कारण भी बतलायें गये हैं।[११]

(१) पारिवारिक स्थिति

परिवार की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति महिलाओं के द्वारा नियमित रूप से रोजगार में संलग्न रहने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसलिये श्रम-बाजार में महिलाओं की सहभागिता की दर पारिवारिक पृष्ठभूमि के अनुसार बदलती रहती है। निम्नवर्गीय महिलाओं के द्वारा कार्य में लगे रहना एक आम बात है। वे कम आयु में ही कार्य में लग जाती है तथा जीवनपर्यन्त लगी रहती हैं। सुप्रसिद्ध समाजसेविका श्रीमती देवकी जैन[१२] के अनुसार "... ऐसे परिवारों में महिलाओं द्वारा रोजगार में सक्रिय सहभाग की दर पुरुषों की दर से अधिक होती है।" दूसरी ओर मध्यम और उच्चवर्गीय पारिवारिक पृष्ठभूमि की महिलायें अपने परिवार तथा बच्चों की देखभाल पर अधिक समय और शक्ति व्यय करती हैं। यदि वे कार्य करती भी हैं तो प्रायः विवाह से पहले अथवा प्रजनन काल के पश्चात् लेकिन कभी-कभी परिवार में वृद्धजनों की देखभाल के लिये उन्हें घर में ही रह जाना पड़ता है। ऐसी स्थित में वे कार्य नहीं कर पाती है। महिलाओं की पारिवारिक पृष्ठभूमि और उनका आर्थिक जगत में सहभाग के क्षेत्र में और भी गहन तथा सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है ताकि उनकी कार्य-सहभागिता बढ़ाने के लिये उचित हल ढूंढा जा सके।

(२) अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन

जैसे जैसे हम औद्योगीकरण की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे कृषि क्षेत्र में गिरावट आती जाती है। औद्योगीकरण की गति यह भी निर्धारित करती है कि महिला और पुरुषों को किस

प्रकार का और कितनी सुविधा से रोजगार के अवसर उपलब्ध होंगे। इस्टर बोसरप[11] के अनुसार औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में महिलाओं द्वारा श्रम-बाजार में सहभागिता की दर में गिरावट आती है। ऐसा इसलिये होता है कि वे आधुनिक अर्थतंत्र में आसानी से रोजगार नहीं प्राप्त कर पाती हैं क्योंकि वे आधुनिक प्रकार की नौकरियों तथा व्यवसायों के लिये पूरी तरह प्रशिक्षित नहीं होती हैं। दूसरी ओर रोजगार के उन क्षेत्रों में भी गिरावट आती है जिनमें अधिक संख्या में महिलाओं को कार्य मिला होता है। ग्रामीण क्षेत्रों से अनेक पुरुष नगरों में आधुनिक प्रकार के कार्य करने चले आते हैं लेकिन वे अपनी पत्नियों को अपने गाँवों में ही छोड़ आते हैं। ऐसी अवस्था में उनकी पत्नियां, जो कि गांवों में अपने पतियों के साथ कृषि क्षेत्रों में कार्य करती होती थी, कार्य करना बन्द कर देती हैं। बोसरप का कहना है कि जब तक आधुनिक अर्थतंत्र इतना विशाल न हो जाय कि वह इस प्रकार की सभी महिलाओं को भी उचित रोजगार के अवसर प्रदान करें तब तक महिलाओं द्वारा कार्य-सहभागिता की दर में गिरावट अवश्यसम्भावी है। जैसे-जैसे महिलायें आधुनिक अर्थव्यवस्था की विशेषताओं से परिचित होती जायेंगी वैसे वैसे वे अपने को उसके अनुरूप बनाती जायेंगी।

(३) महिला प्रधान तथा पुरुष प्रधान कार्यों के प्रति अभिवृत्ति

संस्कृति विशेष द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि कौन से कार्य महिलाओं के लिये उपयुक्त हैं और कौन से पुरुषों के लिये। भारत जैसे विकासशील तथा कृषि-प्रधान राष्ट्र में महिलाओं का उचित स्थान घर ही समझा जाता रहा हैं। महिलायें प्रायः घरों में अथवा खेतों में उत्पादन कार्यों में सक्रिय सहयोग करती आ रही हैं, परन्तु समाज द्वारा उन्हें स्वतंत्र रूप से अर्थोपार्जन करने की छूट नहीं प्रदान की गयी है। ऐसा इसलिये किया गया है कि परम्परागत रूप से पुरुषों को ही मुख्य आयदाता माना जाता रहा है।

इसके अतिरिक्त कुछ कार्यों को महिलाओं के लिये अनुपयुक्त माना गया है। उदाहरण के लिये अभी भी भारतीय समाज में महिलाओं के लिये पुलिस विभाग में कार्य करना, वकील, इन्जीनियर अथवा व्यापारी बनना उनकी मर्यादा के अनुरूप नहीं समझा जाता। परन्तु जैसा कि उल्लिखित किया जा चुका है कि आधुनिक शिक्षा के प्रसार तथा जनता में महिलाओं के प्रति परिवर्तनशील अभिवृत्तियों एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के व्यापारीकरण के कारण ऐसी अपेक्षा की जा रही है कि भविष्य में महिलाओं का प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय तथा नौकरी में सहभाग बढ़ेगा।

(४) पुरुषों में रोजगार तथा आय की दर

प्रायः सभी संस्कृतियों में पुरुषों से कार्य करने की अपेक्षा की जाती है, परन्तु महिलाओं द्वारा आर्थिक गतिविधियों में भाग लेने की दर उनके पतियों अथवा परिवारों के आय स्तर से प्रभावित होती है। यदि पति की आमदनी अच्छी है तथा परिवार की आर्थिक दशा सुदृढ़

है तो महिलायें सम्भवतः घर के बाहर कार्य करना पसन्द नही करेंगी। क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि यदि कोई महिला घर से बाहर कार्य करने जाती है तो उसके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। सन्धु[१४] ने अपने शोध के आधार पर बतलाया है कि पंजाब में परम्परागत रूप से बड़ी संख्या में महिलायें खेतों में कार्य करने जाती हैं। परन्तु हरित-क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न सम्पन्नता के करण अनेक महिलाओं ने अब खेतों में कार्य करना बन्द कर दिया है। अब वे अपनी जगह अंशकालीन मजदूरों को खेतों पर कार्य करने भेजने लगी हैं। फिर भी वे अपने घरों में ही रह कर पशुपालन कुक्कुट पालान जैसे व्यवसाय कर लेती हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हम महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों में सहभागिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

(१) भारतीय महिलाओं का रोजगार में स्थान पुरुषों की अपेक्षा निम्न तथा असमान है।

(२) महिलाओं में रोजगार की प्रकृति एवं दर उनके सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होती रही है।

(३) परिवार की आर्थिक स्थिति तथा परिवार का महिलाओं के कार्य के प्रति रुख भी उनकी कार्य-सहभागिता को प्रभावित करता है।

(४) ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं के कार्य-सहभागिता-दर में ह्रास हुआ है।

(५) महिलाओं को श्रम-बाजार में प्रायः प्रतिकूलपूर्वाग्रहों तथा अभिवृत्तियों का सामना करना पड़ता है, जिससे उनमें कार्य करने की अभिरुचि का ह्रास होता है।

(६) औद्योगीकरण तथा उससे सम्बन्धित प्रक्रियाओं का विपरीत प्रभाव महिलाओं के कार्य-सहभागिता पर पड़ता है।

(७) महिलायें श्रम-बाजार में प्रायः इस प्रकार के कार्यों में संलग्न रहती हैं जो अपेक्षाकृत कम प्रतिष्ठित तथा कम आय प्रदान करने वाले होते हैं।

(८) 'कार्यरहित महिला जनसंख्या' में बढ़ोत्तरी की दर 'कार्यरहित पुरुष जनसंख्या' बढ़ोत्तरी की दर से बहुत अधिक पायी गयी है।

टिप्पणी

उक्त निष्कर्षों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारतीय समाज में व्याप्त अनेक प्रकार के सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों के कारण भारतीय महिलायें पूर्णरूपेण स्वतंत्र होकर आर्थिक गतिविधियों में भाग नहीं ले पा रही हैं। महिलाओं के प्रति पूर्वाग्रह

तथा विपरीत भावनायें समाज में अपनी जड़ गहराई तक जमा चुकी हैं, जिनके कारण आर्थिक क्षेत्र में उनको अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। भारतीय परिवारों में व्याप्त समाजीकरण की प्रक्रिया भी भारतीय महिलाओं को भीरु तथा संकोचशील बना देती है। वे श्रम-बाजार में पुरुषों के साथ प्रतियोगिता करने का साहस नहीं जुटा पाती हैं। उनके साथ श्रम-बाजार में भेदभाव का व्यवहार भी किया जाता है। सरकारी, गैर सरकारी तथा असंगठित क्षेत्रों में उनको बराबर अधिकार तथा सुविधायें प्राप्त नहीं हैं। महिलाओं को प्रायः द्वितीय स्तर का कमजोर श्रमिक माना जाता है। इसलिये जहाँ तक सम्भव है उनको या तो पूर्णकालिक कार्यों से वंचित रखा जाता है अथवा उन्हें अर्थव्यवस्था के उपेक्षित एवं निम्न स्तरों पर ही कार्य करने के अवसर प्रदान किये जाते हैं। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण आत्मनिर्भर रूप से कार्य करना महिलाओं के लिये आवश्यक नहीं समझा जाता है।

परन्तु अब अधिक संख्या में महिलायें जागरूक होती जा रही है तथा उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे आर्थिक जगत के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। अब तो वे उच्चस्थ प्रशासनिक पदों को भी सुशोभित कर रही हैं। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी वे सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। आधुनिकीकरण, शिक्षा के प्रसार तथा जनसंचार के साधनों में वृद्धि के कारण महिलाओं के प्रति सामाजिक दृष्टिकोणों में भी कुछ परिवर्तन आया है। आवश्यकता इस बात की है कि महिलाओं को शिक्षा तथा रोजगार के अवसर पुरुषों के समान ही प्राप्त हों तथा उन्हें अधिक से अधिक प्रोत्साहित करके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय योगदान प्राप्त किया जाय।

चमोली गढ़वाल के भोटिया समूहों में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया एवं पर्यावरणीय अध्ययन पर आधारित विश्लेषण

हरिभजन सिंह चौहान

प्रस्तुत शोध पत्र में चमोली गढ़वाल के अर्धभ्रमणकारी समूहों का अध्ययन आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है। इसमें वे परिस्थितिकी एवं पर्यावरणीय अध्ययन भी सम्मिलित किये गए हैं, जिनका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध उक्त जातियों के दैनिक परिवेश से किसी न किसी प्रकार से है। प्रस्तुत शोध पत्र में प्राचीन एवं वर्तमान स्थितियों का विश्लेषण किया गया है एवं परिवर्तन के कारकों एवं उसके प्रभावों का अध्ययन सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत किया गया है।

सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाले, सैलानियों तथा तीर्थ यात्रियों को अपनी प्राकृतिक सुषमा से मंत्रमुग्ध करने वाले उत्तराखण्ड हिमालय में केवल प्राकृतिक विविधता ही नहीं पायी जाती, बल्कि इस क्षेत्र के निवासियों में भी पर्याप्त विविधता विद्यमान है। इस क्षेत्र में निवास करने वाले अनेक समुदायों में से भोटिया समुदाय एक महत्वपूर्ण सामाजिक–सांस्कृतिक इकाई है। भोटिया मुख्यतः एक व्यापारी समुदाय है जो अपने व्यापार की प्रकृति एवं क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण सदियों से यायावरी जीवन व्यतीत करते जा रहे हैं। वर्ष १९६७ में भोटिया समुदाय को अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया।

भोटिया शब्द की उत्पत्ति 'भोट' शब्द से हुयी है। उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र, जो देश की तिब्बत एवं नेपाल के साथ सीमा बनाता है, को भोट प्रदेश कहा जाता है। यह क्षेत्र गढ़वाल हिमालय के उत्तरी भाग में (चमोली एवं उत्तरकाशी) लगभग ६००० वर्ग किलो मी० में ३०° १२' उ० से ३९° २७' उ० अक्षांश एवं ७७° ४९' पू० से ८०° ६' पूर्वी देशांतर के मध्य विस्तृत है (डबराल)। इस क्षेत्र के निवासियों के लिए भोटिया शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः भोटिया नाम कोई वंशानुगत अथवा परम्परागत नाम न होकर मात्र एक

हरिभजन सिंह चौहान, प्राध्यापक, मानव विज्ञान विभाग, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल)

भौगोलिक संबोधन था, परन्तु आधुनिक समय में केवल यहां के मूल आदिम निवासियों के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। भोटिया समुदाय उत्तराखण्ड के चार जनपदों-उत्तरकाशी, चमोली, अल्मोड़ा तथा पिथौरागढ़ में फैला हुआ है। इन चारों जनपदों में भोटिया समुदाय के लोगों को स्थानीय रूप में अलग-अलग नाम से जाना जाता है। अल्मोड़ा तथा पिथौरागढ़ में भोटियों को शोका एवं जोहरी, चमोली में मारछा एवं तोलखा और उत्तरकाशी में जाड़ नाग से जाना जाता है। भोटिया समुदाय के ये विभिन्न स्थानीय समूह सम्पर्क के अभाव में विभिन्न अन्तः विवाही समूहों के रूप में विकसित हो चुके हैं।

भोटिया समुदाय की उत्पत्ति एक विवादास्पद विषय है। कुछ विद्वानों के अनुसार वे यहाँ के मूल आदिवासी हैं, जबकि कुछ अन्य विद्वान उन्हें मैदानों से प्रवासित मानते हैं। भोटिया लोग शताब्दियों से तिब्बत के साथ व्यापार करते आये हैं। तिब्बत के साथ लम्बे सम्पर्क एवं संसर्ग के कारण उनमें तिब्बती रक्त का प्रचुर मिश्रण मिलता है और उनकी मुख-मुद्रा पर मंगोलियन प्रजाति की अमिट छाप दिखायी देती है। मंगोलियन विशेषताओं के कारण उन्हें हिमालय के पार से प्रवासित भी मान लिया जाता है। भोटिया स्वयं अपने आपको खाश या राजपूत मानते हैं तथा राजपूतों के समस्त कुल नाम इनमें पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस समुदाय में प्रत्येक उत्सव एवं त्यौहार पर होने वाले लोक-नृत्यों में तलवार एवं ढाल के प्रयोग इनकी इन्हीं राजपूती परम्पराओं की याद दिलाते हैं।

उत्तरकाशी के बौद्ध धर्मावलम्बी जाड़ को छोड़कर समस्त भोटिया समुदाय हिन्दू धर्म को मानता है। तिब्बत निवासियों के संसर्ग में पर्याप्त काल तक रहने पर भी वे हिन्दू परम्पराओं एवं धर्म की रक्षा दृढ़तापूर्वक करते आये हैं। आज भी भोटिया समुदाय केवल कुछ क्षेत्रीय समायोजनों के साथ हिन्दू धर्म को पूर्ण निष्ठा से अपनाये हैं।

भोटिया लोग बृहद हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के बीच गहरी एवं संकरी घाटियों में निवास करते हैं। यदि इनके शीतकालीन आवासों को छोड़ दिया जाय तो भोटिया ७,००० से १२,००० की ऊँचाई तक मिलते हैं। तिब्बत से व्यापार के कारण ये सीमा के यथासम्भव पास रहना पसन्द करते हैं। इसी कारण इनके गांव जाड़ गंगा, माना नीति, जोहार, दारमा, व्यास तथा चोदारी घाटियों में अत्यधिक ऊँचाई पर बसे हैं। इन घाटियों का अधिकांश हिस्सा नवम्बर से लेकर अप्रैल तक बर्फ से ढका रहता है। अतः यहां इनका जीवन असंभव हो जाता है। इसी कारण भोटिया शीतकाल प्रारंभ होते ही अपने परिवार एवं पशुओं के साथ 'मुनता' शीतकालीन आवास की ओर चल देते हैं तथा गर्मियाँ शुरू होने पर अपने 'मेस' ग्रीष्मकालीन प्रवास में वापस आ जाते हैं। सम्पूर्ण भोटिया प्रदेश के उच्च हिमशिखरों तथा गहरी एवं सपाट घाटियों से घिरा होने के कारण यहां कृषि योग्य भूमि का पर्याप्त अभाव पाया जाता है। अतः भोटियों में भ्रमणकारी जीवन और तिब्बत से व्यापार, कृषि की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो रहा है। कृषि को ग्रीष्मकालीन आवास स्थलों पर द्वितीय व्यवसाय के रूप में लिया जाता है।

भोटिया समुदाय की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उनके तिब्बत से नमक, सुहागा, ऊन, याक की पूंछ, सोना, जानवरों की खाल, खच्चर तथा भेड़-बकरियां इत्यादि लाने और इसके बदले चावल, चीनी, गुड़, तम्बाकू, लोहा, बरतन, सूती कपड़ा तथा अन्य दैनिक उपयोग की वस्तुएं तिब्बत ले जाने पर निर्भर करती थी। इनका यह व्यापार नकद मुद्रा के माध्यम से न होकर केवल 'वस्तु-वियिमय' के रूप में होता था। तिब्बत में भोटिया प्रायः अपने सामान को किसी आढ़ती के माध्यम से बेचते थे, जिसे 'मुंसा' कहा जाता था। तिब्बत में प्रत्येक भोटिया का एक विशेष आढ़ती होता था और उनके ये व्यापारिक सम्बन्ध पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते थे। प्रत्येक भोटिया के गांव बटे हुए थे और ग्रामीण व्यक्ति बहुधा अपने परिचित भोटियों से ही सामान खरीदते थे।

अपने इस व्यापार के लिए उन्हें दुर्गम घाटियों एवं पहाड़ों को पार करना पड़ता था। इन दुर्गम एवं कठोर व्यापारिक यात्राओं ने ही इन्हें अत्यधिक साहसी, कठोर परिश्रमी, सहन-शील, चतुर व्यापारी तथा कुशल पर्वतारोही बना दिया है। सम्भवतः क्षेत्र की कठिन भौगोलिक परिस्थिति एवं यातायात साधनों के अभाव में अन्य व्यापारी इनसे दूर ही रहे। अतः भोटियों के लिए कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था। उन्हें अपनी वस्तुओं की मुँहमांगी कीमत मिलती थी और इस व्यापार पर उनका सम्पूर्ण एकाधिकार था।

भोटियों के तिब्बत के साथ इस परम्परागत व्यापार को प्रथम आघात सन् १९५१ में चीन के तिब्बत पर अतिक्रमण से लगा। चीनियों ने भोटियों के व्यापार पर अत्यधिक भार-कर लगा दिये। फिर भी इनका यह व्यापार धीरे-२ सन् १९६२ तक चलता रहा। सन् १९६२ में चीन के भारत पर अप्रत्याशित आक्रमण के पश्चात भारत-तिब्बत सीमा के पूर्णतः बन्द होने के कारण भोटियों का व्यापार भी पूर्णतः समाप्त हो गया। तिब्बत से व्यापार समाप्ति ने भोटिया अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया और इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी। कल के कुशल एवं सफल व्यापारी के समक्ष आज रोजी-रोटी का प्रश्न पहाड़ की तरह खड़ा हो गया है। व्यापार बन्द होने के कारण इनकी प्रमुख सम्पत्ति इनका पशुधन खच्चर तथा भेड़ आदि पूर्णतया अनुपयोगी हो गये, क्योंकि इनकी मुख्य उपयोगिता व्यापार में ही थी। अधिकांश भोटियों ने अपनी इस सम्पत्ति को भी जीविकोपार्जन के लिए बेच दिया।

जहाँ एक ओर भारत-चीन संघर्ष ने भोटियों की अर्थव्यवस्था को अपूरणीय क्षति पहुंचायी, वहीं दूसरी ओर इस सीमांत क्षेत्र के सामरिक महत्व को बढ़ा दिया है। सम्भवतः इसी कारण इस क्षेत्र में सड़कों एवं मोटर मार्गों का निर्माण हो रहा है। फलतः आज क्षेत्र के सुदूरवर्ती इलाकों में भी सरलतापूर्वक पहुंचा जा सकता है। बहुत बड़ी संख्या में उन्हें इन निर्माण कार्यों में श्रमिक नौकरी प्राप्त हो गयी है तथा कुछ बड़े एवं सम्पन्न भोटिये ठेकेदारी के कार्यों में संलग्न हैं। कुछ ने मुख्य-मुख्य स्थानों में जैसे जोशीमठ, मुंश्यारी तथा धारचूला इत्यादि में स्थाई रूप से दुकानें स्थापित कर ली हैं। ग्रीष्मकालिक आवासों की उपयोगिता समाप्त हो जाने के

कारण अब उनका व्यापारिक जीवन समाप्त होता जा रहा है और उनमें से अधिकांश एक ही स्थान पर स्थाई रूप से रहने लगे हैं।

भोटियों के परपम्रागत व्यापार की समाप्ति ने न केवल इनके आर्थिक जीवन को प्रभावित किया है, बल्कि इनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भी परिवर्तन उत्पन्न किये हैं। इनकी परम्परायें एवं प्रथायें समाप्त होती जा रही हैं अथवा इनमें परिवर्तन होते जा रहे हैं। इनमें विद्यमान 'अपहरण विवाह' समाप्त होते जा रहे हैं। अब विवाह अधिकतर माता-पिता द्वारा तय किये जाते हैं। लड़की की इच्छा जो विवाह में कभी सर्वोपरि होती थी, आज मात्र एक औपचारिकता बन गयी है। आज उनमें विवाह पूर्णरूप से 'वैदिक' संस्कारों के अनुसार ब्राह्मण की देख-रेख में होता है, जबकि पहले उनके विवाह में ब्राह्मण की कोई भूमिका नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त इनमें विद्यमान 'रंग-बंग': युवागृह: प्रथा भी समाप्त प्राय: ही है। बाह्य संस्कृति के प्रभाव से इनके लोक जीवन एवं लोक-संस्कृति में पर्याप्त परिवर्तन होने लगे हैं। विशाल पर्वतीय शिखर तथा घाटियां जो कभी भोटियों के 'हुड़के'—एक प्रकार का वाद्य यंत्र, तथा लोक गीतों से गूंजती थी, आज सिनेमा के गीतों से गूँजने लगी है।

अनुसूचित जनजाति घोषित कर दिये जाने के पश्चात सरकार की ओर से प्राप्त सुविधाओं एवं आरक्षण ने भोटिया समुदाय में सामाजिक-आर्थिक एवं विकास को तीव्र कर दिया है। शिक्षा की बढ़ती हुई सुविधाओं एवं शिक्षा से उत्पन्न विकास के नये आयामों के कारण आज भोटिया समुदाय शिक्षा के प्रति आकृष्ट हो रहा है। इसी के फलस्वरूप पहले इस क्षेत्र में औपचारिक शिक्षा के प्रति जो उपेक्षा भाव था, वह समाप्त होता जा पहा है और क्षेत्र के विद्यालयों में भोटिया छात्र एवं छात्राओं की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। अपनी निम्न आर्थिक स्थिति के कारण अधिकांश भोटिया विद्यार्थी अपना अध्ययन बीच में ही छोड़ देते हैं, क्योंकि उसके लिए अपने स्थानों से बाहर जाकर बिद्या ग्रहण करना संभव नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र की शिक्षा की प्रमुख समस्या उसकी प्रवृति है जो शिक्षा क्षेत्र में दी जा रही है वह इस क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। संभवत: यह शिक्षा भोटिया नवयुवकों में उनके परम्परागत व्यवसायों जैसे ऊनी वस्त्र उद्योग, पशु-पालन तथा कृषि के प्रति अलगाव उत्पन्न करके उनमें सरकारी एवं गैर-सरकारी नौकरियों के पीछे भागने की प्रकृति को प्रोत्साहित करती है। अत: इस क्षेत्र में मात्र औपचारिक शिक्षा के स्थान पर व्यवसाय पर शिक्षा को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

तिब्बत से ऊन का आयात बन्द होने के कारण भोटिया अर्थव्यवस्था का दूसरा प्रमुख स्तंभ ऊनी वस्त्र गृह-उद्योग प्रभावित हुआ है। भोटिया महिलायें तिब्बत से आयातित ऊन, पट्टू, थुलमा, कम्बल, चुटका तथा आसन इत्यादि बनाती थी। सरकार जन जातीय कल्याण कार्यक्रम के अन्तर्गत भोटियों को इस कला को विकसित करने का प्रयास कर रही है। इस कार्य के लिए क्षेत्र में वस्त्र निर्माण, कताई एवं बुनाई केन्द्र खोले जा रहे हैं तथा बाहर से ऊन आयात करके भोटियों को उपलव्ध करायी जा रही है। इसी प्रकार

सरकार द्वारा अन्य आर्थिक क्षेत्रों जैसे भेड़-बकरी पालन, मुर्गी पालन तथा कृषि इत्यादि के क्षेत्रों में भी विकास के पर्याप्त प्रयास किये जा रहे हैं।

सम्पूर्ण भोटिया समुदाय एवं क्षेत्र के विकास के लिए इतने अधिक प्रयासों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस कार्य में नियोजनकर्ताओं एवं प्रशासकों की सहायता समाज-शास्त्री एवं मानवशास्त्री बखूबी कर सकते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. शशि, एस. एस. १९७९ दि नोमेड्स आफ दि हिमालय (संदीप प्रकाशन, हिन्दी)

२. डबराल, एस. पी. १९६४ उत्तराखण्ड के भोटांतिक (वीरगाथा प्रकाशन दोगड्डा, गढ़वाल)

३. एटकिन्सन, ई. टी. १९७३ हिमालयन गजेटियर (फास्मो पब्लिकेशन, दिल्ली)

४. विष्ट, एन. एस. १९८० उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था (सरस्वती पब्लिकेशन, श्रीनगर गढ़वाल)

५. सिंह, टी. वी. १९८३ स्टडीज इन हिमालियन इकोलाजी एण्ड डेवलपमेन्ट स्ट्रेटजी (इंगलिश बुक स्टोर, नई दिल्ली)

६. उप्रेती, आर. पी. १९६८ भोटियाज़ ऑफ उत्तराखण्ड : ए स्टडी इन ऐन्थ्रापोजियोग्राफी (नैनीताल)

भोटिया जनजाति की आर्थिक संरचना के बदलते आयाम

एन० सी० जोशी

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय समाज के सामाजिक आर्थिक जीवन की संरचना में महत्व-पूर्ण परिवर्तन आये हैं। आदिम समाजों तथा जन-जातीय समाजों में यह परिवर्तन ज्यादा तेजी से आया है तथा इसकी तीव्रता को देखकर कहीं-कहीं पर तो उनकी संस्कृति तथा अस्मिता की सुरक्षा का प्रश्न ही उठ खड़ा हुआ है। आधुनिक परिवर्तनकारी प्रभावों, पश्चिमी व आधुनिक नगरीय समाजों की चमक-दमक जन-जातीय समाजों के लिए विशेष आकर्षण की वस्तु रही है जिससे कहीं-कहीं तो उन्होंने अपनी संस्कृति को ही न समझकर दूसरी संस्कृति को पूर्णरूप से आतमसात करने का प्रयत्न किया है। जिसे समाज वैज्ञानिकों ने संस्कृति गृहण प्रत्यय से परिभाषित किया है। इसी हीन भावना का परिणाम है कि जन-जातीय तथा आदिम समाजों में धर्म परिवर्तन स्वतन्त्रता से पूर्व ही नहीं बल्कि उसके बाद भी तेजी से हुआ है जिससे उनकी समाज को मुख्यधारा से कटने की सम्भावनायें बढ़ी हैं। जन-जातियों को समाज की मुख्यधारा में सम्मिलित करने के लिए सरकार द्वारा विशेष प्रयत्न किये गये, जिसमें जन-जातीय विकास के कार्यक्रमों को तीव्र गति देकर जनजातीय समाज तथा जनसाधारण के विभिन्न वर्गों के बीच समानता की मनोवैज्ञानिक धारणा उत्पन्न करने का प्रयास किया गया।

प्रस्तुत लेख उत्तर प्रदेश के उत्तरकाशी जनपद में निवास करने वाली भोटिया जन-जाति से सम्बन्धित है। भोटिया लोग मुख्यतः कुमायूँ मण्डल के पिथौरागढ़ जनपद व गढ़वाल मण्डल के चमोली व उत्तरकाशी जनपद में निवास करते रहे हैं। भोटिया लोग प्राचीन काल से ही अर्धयायावरी जीवन व्यतीत करते हैं। भारत तिब्बत सीमा प्रतिबन्धित होने से पूर्व उनका मुख्य व्यवसाय भारत व तिब्बत के बीच व्यापार करना था।

सन् १९८१ की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जन-जातियों की कुल जन-संख्या ५,२६, ५१,५६२ थी, जिनमें से २,३२,७०५ जनजातीय जनसंख्या के लोग उत्तर

डा० एन० सी० जोशी, समाज शास्त्र विभाग राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उत्तरकाशी।

प्रदेश में निवास करते थे। उत्तर प्रदेश की कुल जनजातीय जनसंख्या में से १,८१,६४४ लोग पर्वतीय क्षेत्र में तथा ५१,०६१ लोग मैदानी क्षेत्र में निवास करते हैं। भारत में निवास करने वाली जन-जातियों में खस, खासी, नागा, कोल भील, टोडा, सन्थाल, मुड़िया, ओरा, थास, बोक्सा तथा भोटिया आदि प्रमुख हैं। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा में १९६७ भोटिया, बुक्सा, जोनसारी, राजी, तथा थारू आदि पाँच (५) प्रजातियों को जनजातियाँ घोषित किया गया है।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य स्वतन्त्रता के बाद भोटिया जनजाति के लोगों पर यातायात, सन्देशवाहन तथा विकास और राष्ट्रीय सत्ता के बढ़ते प्रभाव तथा भारत-तिब्बत व्यापार प्रतिबन्धित होने के फलस्वरूप उनकी आर्थिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना है—लेख को सुविधानुसार चार (४) खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड भोटिया जनजाति का संक्षिप्त प्रस्तुतिकरण द्वितीय खण्ड भोटिया जनजाति की परम्परागत आर्थिक संरचना, तृतीय खण्ड समकालीन आर्थिक संरचना तथा चतुर्थ खण्ड में निष्कर्ष तथा सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। अध्ययन हेतु भोटिया लोगों की आर्थिक क्रियाओं को आधार माना गया है तथा सामग्री का संकलन वर्ष १९८४-८५ एवं ८५-८६ में सहभागी तथा असहभागी अवलोकन तथा साक्षात्कार प्रवधि द्वारा किया गया है अध्ययन की सुविधा के लिए अध्ययन क्षेत्र उत्तरकाशी जनपद तक ही परिसीमित कर दिया गया है।

भोटिया जनजाति : संक्षिप्त परिचय

उत्तर प्रदेश के हिमालय क्षेत्र के उत्तरी भाग की एक पेटी जो पश्चिम से पूर्व तक फैली है को 'भोट प्रदेश' या भोटान्तिक प्रदेश कहा जाता है। केन्द्रीय हिमालय शृंखला को अपने में समेट भोटांचल प्रदेश भारत के सीमावर्ती क्षेत्र पर स्थित है। इस क्षेत्र में मुख्यतः जो जनजाति निवास करती है उसे ही भोटिया कहा जाता है। भोट प्रदेश २००० मीटर से ५००० मीटर की ऊँचाई का क्षेत्रफल लगभग २७,००० वर्ग कि० मी० है तथा यहाँ की जनसंख्या १९८१ में लगभग एक लाख थी जिनमें से ६०,००० जनसंख्या भोटिया तथा इसी प्रजाति के लोगों की थी। विकास की दृष्टि से भोटिया जनजाति क्षेत्र को इन तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं। जोहार व दारमा व्यासो के भोटिया शिक्षा व सभ्यता व सम्पन्नता की दृष्टि से अन्य सभी भोटियों से बहुत आगे निकल गये हैं तथा जनजातीय कल्याण व आरक्षण की सुविधाओं का वे पूरा-पूरा लाभ उठा कर उच्चस्थ प्रशासनिक पदों पर पहुंच गये हैं। वर्गीकरण में चमोली जनपद के नोतीमाणा घाटी के भोटियों को ले सकते हैं जिनमें राजनैतिक जागरूकता आ चुकी है तथा वे शिक्षा व सम्पन्नता की ओर तेजी से अग्रसर हो रहे हैं। तृतीय वर्गीकरण में हम उत्तरकाशी जनपद के नेलंग-जादुम घाटी के भोटियों को ले सकते हैं। इनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय है तथा शिक्षा व सभ्यता की दृष्टि से भी ये भोटिया अन्य भोटियों से बहुत पिछड़े हुए हैं। तिब्बत पर चीन का आधिपत्य होने के वाद (१९६२) से इनका परम्परागत व्यापार समाप्त हुए शताब्दी का एक चतुर्थांश समाप्त हो गया है परन्तु

ये अभी तक अपनी अर्थव्यवस्था को समायोजित नहीं कर पाये हैं। दुःखद विषय यह भी है कि इन्हें कोई अच्छा स्थानीय नेतृत्व नहीं मिल पाया है जिसके कारण सरकार का भी ध्यान इनके विकास की ओर नहीं गया है। जबकि सरकार द्वारा उत्तर प्रदेश में जनजातीय निदेशालय की स्थापना भी की जा चुकी है।

शासन द्वारा जनजातीय कल्याण के लिये तेजी से कार्य किया जा रहा है। भोटिया जनजाति की अधिसंख्यक जनसंख्या उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र में निवास करती है। सरकार द्वारा जनजातीय कल्याण के लिये पर्वतीय क्षेत्र में पांच जनजातीय विकास परियोजनायें सप्तम् पंचवर्षीय योजना के लिये बनाई गई हैं। जिनके नाम क्रमशः एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना खटीमा, नैनीताल; एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना काशीपुर, नैनीताल; एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना धारचुला, पिथौरागढ़; एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना जोशीमठ, चमोली एवं एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना चकरौता, देहरादून है। उक्त पाँच जनजातीय एकीकृत विकास परियोजना पर्वतीय क्षेत्र में जनजातियों के कल्याण के लिये बनाई जा चुकी हैं, परन्तु उत्तरकाशी जनपद के जो भोटिया वर्तमान में अन्य सभी भोटियों से बहुत पिछड़ी स्थिति में हैं, के विकास के लिये सरकार ने कोई एकीकृत विकास परियोजना नहीं बनाई है। इन लोगों के विकास की बात नेतृत्व के किसी भी स्तर से नहीं उठाई गई है। तथा इन लोगों में अभी राजनैतिक चेतना नहीं है, कि वे सरकार के दरवाजे स्वयं खटखटा सकें। इनके विकास की संभावनायें तभी बढ़ सकती हैं, जब कोई सुशिक्षित भोटिया व्यक्ति इनका नेतृत्व करे परन्तु अगले एक दशक तक इसकी संभावनायें नगण्य हैं।

भोटिया लोग आज भी अर्ध यायावर जीवन व्यतीत कर रहे हैं, इनके ऋतु कालीन दो निवास होते हैं, उत्तरकाशी जनपद के भोटिया गर्मियों में हरिलि व बगोरी नामक स्थानों में चले जाते हैं, तथा सर्दियों में नाकुरी डुण्डा व चोरपानी नामक स्थानों पर लौट आते हैं।

परम्परागत आर्थिक संरचना

भोटिया जनजाति परम्परागत रूप से एक व्यापारिक प्रजाति रही है जब तक तिब्बत स्वतंत्र देश था, भोटियों का परंपरागत व्यवसाय भारत तथा तिब्बत के साथ व्यापार करना था। भोटिया लोग महीनों तक गिरि पथों तथा हिम पथों से भारत से तिब्बत को तथा तिब्बत से भारत की मंडियों में सामान पहुंचाते थे। तिब्बत से नमक, सुहागा, स्वर्णधूलि तथा घी लाते थे, और भारत से अनाज, गुड़ तथा विशातखाने का सामान ले जाते थे। १९६२ में चीनी आक्रमण के फलस्वरूप तिब्बत की प्रभुसत्ता समाप्त हो गई तथा भारत तिब्बत सीमा सदैव के लिये बन्द हो गई, जिसके कारण इनके व्यापार व अर्थ संरचना में आमूल-भूत परिवर्तन आ गया। इनका सदियों पुराना व्यवसाय सदैव के लिये बन्द हो गया तथा भोटिया पुरुष बेकार सा हो गया। श्री पन्त के अनुसार 'तिब्बत व्यापार के समय सभी योग्य शरीर

के व्यक्ति गर्मियों में तिब्बत तथा सर्दियों में नीचे मण्डियों व मेलों में व्यापार के लिये चले जाते हैं, और बाकी सब कार्य महिलाओं के लिये छोड़ देते हैं।" वास्तव में सन् १९६२ तक भोटिया अर्थ संरचना तथा उनका व्यवसाय ही इस प्रकार का था, कि पुरुषों को महीनों तक व्यापार के लिये घर से बाहर रहना पड़ता था, परन्तु अब स्थिति इसके ठीक विपरीत हो गई है।

प्राचीन समय से ही भोटिया लोगों के पास कृषि नाम मात्र की रही है, तथा सहायक व्यवसाय के रूप में पशु-पालन का कार्य उन्होंने किया। पशुओं में प्राय: भेड़-बकरियों का पालन ही करते आये हैं। भेड़-बकरियों से प्राप्त ऊन की कताई प्राय: स्त्रियां ही चरखे पर करती रही हैं, तथा ऊन से वे लोग पंखी, शाल—स्वीटर, थुलमें व कालीन आदि बनाकर उनकी बिक्री करते हैं एक विशेष तथ्य यह उल्लेखनीय रहा है कि वे इस वस्तुओं को सीधे उपभोक्ता के हाथों प्राचीन समय से ही पहुँचाते रहे हैं। उन्होंने अपने व्यवसाय में अनावश्यक रूप से मुनाफा खाने वाले बिचौलियों को कभी प्रश्रय नहीं दिया तथा अभी तक भी उनके इस व्यवसाय में पेशेवर विचौलिया नहीं पनप पाया है। इनके द्वारा निर्मित ऊनी वस्त्र आज भी अपनी शुद्धता व उत्कृष्टता के लिये प्रसिद्ध है।

समकालीन आर्थिक संरचना

भारत तिब्बत सीमा प्रतिबंधित होने के बाद सन् १९६२ से भोटिया लोगों का परम्परागत व्यवसाय सदैव के लिये समाप्त हो गया है। अध्ययन के दौरान पाया गया कि उत्तरकाशी जनपद के भोटिया जनजाति के लोग तिब्बत सीमा प्रतिबंधित होने के बाद आज लगभग पच्चीस वर्ष का समय व्यतीत होने पर भी अपनी आर्थिक संरचना को समायोजित नहीं कर पाये हैं। वहाँ का पुरुष वर्ग तो लगभग बेकार सा हो गया है। क्योंकि वह अपना परम्परागत व्यवसाय ही खो बैठा है जिससे आज तक पुरुष वर्ग के लिए कोई ऐसी भूमिका निर्धारित नहीं हो पाई है जिसका निर्वाह करना उसके लिए परम्परागत रूप से आवश्यक हो। दूसरी ओर भोटिया नारी केवल तिब्बत व्यापार में ही पुरुष का साथ नहीं दे पाती थी शेष सभी कार्यों का सम्पादन वह प्राचीन काल से ही करती आई है। पुरुष वर्ग की परम्परागत भूमिका निर्धारित न हो पाने के कारण स्त्रियों का दायित्व तथा कार्यभार बढ़ता ही जा रहा है। पुरुष वर्ग तो अपने समय तथा धन का दुरुपयोग जुवा व शराब पर करने लगा है फलस्वरूप उनकी अर्थ व्यवस्था स्त्री आश्रित होती जा रही है। भोटिया पुरुष अपने ग्रीष्मकालीन ६ माह तो बड़ी आसानी से निकाल लेता है क्योंकि इस अवसर पर वह अपने उँचे स्थल स्थित आवासों (मैत ग्राम) पर यथा हर्षिल व बयोरी चला जाता है जहाँ वह सामान्य समाज व सामान्य प्रशासन व पुलिस की पकड़ से बहुत दूर है तथा वहाँ वह अपने को बड़ा सरल चित्त महसूस करता है क्योंकि केवल जनजातीय समाज होने के कारण उस पर सामान्य सभ्य समाज का सामाजिक दबाव समाप्त हो जाता है। यहाँ प्रत्येक घर में मदिरा बनाई जाती है पुरुष वर्ग दैनिक रूप से रात-दिन मदिरा पान करता है तथा जगह-जगह घरों पर व खुले में बैठकर लोग बिना

किसी कानूनी भय के खुलेआम जुआ खेलते देखे गये हैं। यहाँ पुलिस व प्रशासन नाम की कोई चीज नहीं पाई गई है। और यदि है तो यह सब उनकी शह पर ही होता है। इसके विपरीत स्त्रियाँ इस अवधि में कठिन परिश्रम कर ऊन को धुलाई, कताई, व बुनाई कर शाल, थुलमे व कालीन काफी मात्रा में बनाती हैं, जो इनके घरों से ही बिक जाते हैं। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि यदि स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान समय का दुरुपयोग करना शुरू कर दें तो वह दिन ज्यादा दूर न होगा जब भोटिया लोगों को दो जून की रोटी भी पर्याप्त न हो सके। भोटिया स्त्री बड़ी परिश्रमी होती है तथा वह दैनिक रूप से औसतन १२ से १४ घन्टे तक कठिन परिश्रम करती है। महिला श्रम शक्ति ने भारत तिब्बत व्यापार प्रतिबन्धित होने के बाद भोटिया अर्थ संरचना को उसी मजबूती से संबल प्रदान किया है जैसे मानव शरीर को उसको रीड़ की हड्डी प्रदान करती है। निसन्देह रूप से भोटिया महिला श्रमशक्ति को भोटिया अर्थ संरचना की रीड़ कहा जा सकता है। भोटिया पुरुषों में उत्तरकाशी जनपद में लगभग १० भोटिया लोगों ने अब हर्षिल, बगोरी व डुण्डा में बिसातखाना व स्वनिर्मित ऊनी वस्त्रों की दुकाने खोली हैं परन्तु इनमें से अधिसंख्यक खाँपा भोटिया जिनकी स्त्रियां भी व्यापार में दक्ष होती है तथा वे वेहिचक दुकानों पर भी बैठती हैं। तथा स्थानीय मेलों व गांवों में जाकर अभी भी फेरी वालों के रूप में कार्य करती हैं परन्तु नेलंग जादूग घाटी में बहुसंख्यक जनसंख्या जाड भोटियों की है जिनका ऐसे स्थानीय व्यापार की ओर अब कोई विशेष लगाव नहीं है। जाड भोटियों का मुख्य व्यवसाय वर्तमान समय में भेड़ बकरियों का पालन करना है तथा उनसे प्राप्त ऊन से वस्त्र बनाकर उनकी बिक्री कर ही जीवन यापन करना है। उत्तरकाशी जनपद के लगभग एक प्रतिशत भोटिया सरकारी नौकरी भी करने लगे हैं जो सरकारी आरक्षित पदों की पूर्ति भी नहीं कर पाते हैं।

निष्कर्ष एवं सुझाव

स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय समय में होने वाले सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तन भोटिया समाज को अधिक प्रभावित नहीं कर पाये थे। क्योंकि भोटाँचल बाहरी दुनिया से लगभग कटा हुआ था परन्तु वर्तमान समय में दूर—संचार व अवागमन के साधन बढ़ने के कारण भोटिया जनजातीय समाज में स्थानीय हिन्दू संस्कृति का प्रभाव तेजो से पड़ रहा है। सामाजिक परिवर्तन की यह शृंखला स्वतंत्रता प्राप्ति से शुरू हुई तथा १९६२ के पश्चात इसमें तीव्रता आई, क्योंकि परम्परागत तिब्बत व्यापार के अचानक समाप्त होने के कारण भोटिया लोगों को अन्यत्र आर्थिक साधन तलाश करने पड़े। जिसके फलस्वरूप इन लोगों ने आधुनिक सभ्य एवं नगरीय समुदाय में प्रवेश किया, जिसके प्रभावों से वे जनजातीय समुदाय को अछूता न रख सके।

आज आवश्यकता इस बात की है कि भोटिया समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तो उचित है परन्तु इसके साथ ही यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कहीं आधुनिकता की

चमक के नशे में भोटिया लोग अपनी संस्कृति व अस्मिता को न खो बैठें। इनकी सामाजिक आर्थिक संरचना सुदृढ़ बनाने के लिए अध्ययन के आधार पर निम्न सुझाव हैं :

१ शासन को उत्तरकाशी जनपद में निवास करने वाले भोटियों के लिए अलग से भागीरथी जनजातीय विकास परियोजना बनानी चाहिए जो इनके कल्याण के लिए कार्य करे। अन्य पर्वतीय क्षेत्रों (कुमायूँ एवं गढ़वाल) के लिए सरकार द्वारा सप्तम पंचवर्षीय योजना में ऐसी पांच एकीकृत जनजातीय परियोजनायें बनाई जा चुकी हैं, जो कि इन क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों के कल्याण के लिए कार्य कर रही हैं।

२ अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ है कि भोटिया महिला श्रम शक्ति भोटिया अर्थ संरचना की रीड़ की हड्डी है। अतः इन्हें अपने परम्परागत ऊन उद्योग के लिए आधुनिक तकनीकी, मशीनों एवं संसाधनों तथा प्रशिक्षण आदि देकर सहायता की जानी चाहिए ताकि वे कम समय तथा श्रम से अधिक उत्पादन कर अपनी अर्थ संरचना को मजबूत बना सकें।

३ समाज शिक्षा व प्रौढ़ शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा द्वारा भोटिया समाज में बढ़ते हुए सुरापान व जुएं की लत या आदत को छुड़वाने का प्रयास किया जाना चाहिए तथा पुलिस व प्रशासन को भी इस ओर विशेष सजग रहने के लिए निर्देशित किया जाना चाहिए।

४ भोटियों के ऊन उद्योग को मशीनीकृत किया जाना चाहिए। जैसे कि ऊन की कताई का कार्य सामान्य चर्खे के स्थान पर विद्युतीकृत उपकरणों द्वारा कराये जाने से स्त्रियाँ कम मेहनत कर अधिक उत्पादन कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त इनके उत्पाद शाल, पंखों, दुशाले आदि हथकरघे के स्थान पर आधुनिक मशीनों से निर्मित किये जायें तो उत्पादित वस्तु अपने कम मूल्य तथा आधुनिक डिजाइनों के आधार पर बाजारू प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकने में सक्षम हो सकेंगी तथा उत्पादन में भी कई गुना वृद्धि होगी।

५ शिक्षित भोटिया पुरुषों को उनके परम्परागत रोजगार से हटाकर रोजगार उपलब्ध कराया जाय ताकि उनके परम्परागत ऊन उद्योग पर भारत-चीन सीमा विवाद (सन् १९६२) के बाद अचानक जो असीमित बोझ बढ़ा है उसे कुछ कम किया जा सके। इसके लिए उन्हें सरकारी नौकरी तथा अन्य आधुनिक उद्योग व व्यापार आदि के लिए प्रशिक्षण तथा आर्थिक योगदान कर समायोजित किया जा सकता है। इसका एक अच्छा परिणाम यह भी होगा कि भोटिया महिला जनशक्ति पर पुरुषों के पास कोई निश्चित परम्परागत व्यवसाय न होने के कारण १९६२ से अचानक जो बोझ बढ़ा है वह कुछ कम हो सकेगा।

उत्तर काशी जनपद में रहने वाले भोटियों की स्थिति दारमाव्यासी व नीती-माणा घाटी के भोटियों की तुलना में बहुत ही निम्न व शोचनीय है। अतः इस ओर शासन को विशेष ध्यान देना चाहिए तथा इनकी क्षेत्रीय परिस्थितियों को विशिष्ट मानते हुए इनके बारे में होने वाले शोध कार्यों को आर्थिक योगदान आदि देकर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए.

ताकि क्षेत्रीय आधार पर इनके कल्याण के लिए शासन व समाजसेवी संस्थाओं को योजना बनाने में मदद मिल सके।

संदर्भ ग्रंथ

१. एटकिन्सन, ई० टी० — 'दि हिमालयन गजेटियर', कोस्मो पब्लिकेशन, खण्ड—२, भाग—१

२. विलियम, बी० ए० — 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट आफ दि नार्थ वेस्टर्न, प्रोविन्सेज' एण्ड अवध, खण्ड—४

३. पन्त, एस० डी० — 'सोशल इकनोमी आफ हिमालयाज', जी० एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १९५५।

४. मजूमदार, डी० एन० तथा टी० एन० मदन — 'एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल एन्थ्रोपोलोजी,' एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९७४।

५. लाल, गुलाब शंकर — 'भोटिया जनजाति के धर्म एवं रीति-रिवाज, (सामाजिक तथा भौगोलिक सर्वेक्षण)' हिमालय निवासी और निसर्ग, अंक—४, सितम्बर, ८६, दिल्ली।

६. जोशी, एन० सी० एवं जे० पी० पचौरी — 'भोटिया जनजाति एक सर्वेक्षण रिपोर्ट,' हिमालय निवासी और निर्सग, दिस० ८५/जन०८६, हिमालय सेवा संघ, नई दिल्ली।

७. — 'भोटिया महिलाओं का आर्थिक क्रियाओं में योगदान', 'हिमालय निवासी और निसर्ग' मई, १९८६, हिमालय सेवा संघ नई दिल्ली।

८. जोशी, एन० सी० — 'बदलते आर्थिक परिवेश में भोटिया महिलाओं की भूमिका, 'योजना, नवम्बर १६-३०, १९८६, नई दिल्ली।

९. भट्ट, ममता, अशोक कुमार — 'सामाजिक आर्थिक विकास में भोटिया महिलाओं की चुनौतियाँ' सोविनार, मई १९८६, मानवशास्त्र विभाग, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, गढ़वाल।

बाल-अपराध और संचार के साधन

विनोद सिंह

तकनीकी तथा वैज्ञानिक विकास, व्यापार एवं उद्योग ने संचार व्यवस्था में क्रान्ति ला दी है। संचार प्रक्रिया के कारण पिछले दो दशक से मानव के प्रतिदिन के जीवन में प्रत्यक्ष परिवर्तन आया है। इसके कारण आधुनिक मानव के अवकाश क्षणों में जहाँ वृद्धि हुई है वहीं आनन्दपूर्ण साधनों के उपयोग के कारण आधुनिक मानव को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। बच्चे भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे हैं। मनोरंजन की अत्यधिक सुविधा का होना तथा मनोरंजन के साधनों का अभाव होना यह दोनों ही बालक के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मनोरंजन की अत्यधिक सुविधा बड़े-बड़े व्यस्त नगरों में पायी जाती है, जबकि गाँवों में इनका अभाव देखा जाता है। बड़े शहरों में सिनेमा घर, बाग-बगीचे, चटकीले-भड़कीले बाजार, बालक के जीवन और क्रियाओं से जुड़े हैं। शहरों में बच्चे क्लब, रेस्टोरेन्ट, होटल तथा नाटक-घरों में जाते हैं, और उन्हें देखते है। इनका प्रभाव उनके मस्तिष्क पर पड़ता है और यही स्थान उनके आकर्षण का केन्द्र हो जाते हैं। इस प्रकार वे अपना खाली समय इन्हीं जगहों पर व्यतीत करते हैं। यहाँ बाल-अपचारिता दो तरह से देखने को मिलती है, एक ओर तो बालक देखकर उससे प्रोत्साहित होकर अपचार करता है, दूसरी ओर ऐसे स्थानों पर रहकर बालक के अपचार की ओर प्रवृत्ति होने के पर्याप्त अवसर मिल जाते हैं।

इसके विपरीत मनोरंजन के साधनों का अभाव भी बालक को अपचारी बनाता है। घर में मनोरंजन की सुविधा न होने पर बालक घर से भाग कर सड़कों पर घूमने लगता है जहाँ वह अपचारी व्यवहार को सीखता है, मनोरंजन के साधनों का अभाव होने से गाँवों में प्रायः बालक कुत्तों का पीछा करते हैं, चिड़ियाँ मारते हैं और घर से हमेशा बाहर रहते हैं। मनोरंजन के अभाव में बालक में नीरसता तथा उदासीनता आ जाती है। बाल-अपचारिता की अत्यधिक दर बस्ती क्षेत्रों में पायी जाती है, क्योंकि वहाँ मनोरंजन के साधनों का अभाव होता है (द्रष्टव्य, ट्रक्साल : १९२९) इस कारण वे अनेक प्रकार के असामाजिक कार्यों के माध्यम से अपना मनोरंजन करते हैं।

डा० विनोद सिंह, रिसर्च एसोशियेट, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रस्तुत लेख में बाल-अपचारियों पर संचार-साधनों के प्रभाव को जानने का प्रयास किया गया है। इस समाज वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य के लिए वाराणसी शहर के राजकीय अनुमोदित विद्यालय 'रामनगर' तथा 'बाल पर्यवेक्षण गृह' औसानगंज दो बाल सुधार गृहों का अध्ययन क्षेत्र के रूप में चयन किया गया। राजकीय अनुमोदित विद्यालय में २३४ बाल अपचारी बाल पर्यवेक्षण गृह में ५९ बाल अपचारी थे। प्रस्तुत अध्ययन में २०० बाल अपचारियों जिनमें राजकीय अनुमोदित विद्यालय के १५० बालकों तथा बाल पर्यवेक्षण गृह के ५० बालकों का चयन दैव निदर्शन के आधार पर किया गया।

प्रायः मनोरंजन के विभिन्न साधनों जैसे-समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, पुस्तकें आदि का प्रभाव बालक के विचारों और दृष्टिकोणों पर पड़ता है। बालक समाचार-पत्र पढ़ता है, साहित्य पसन्द करता है, सिनेमा देखता है तथा संगीत सुनता है। इन सबका संचित प्रभाव बालक के मस्तिष्क पर पड़ता है। इनमें समाचार-पत्र सबसे शक्तिशाली साधन है। रैंपट का कहना है कि समाचार-पत्र अपचार-वृद्धि तथा अपचार करने का तरीका सिखाने में उत्तरदायी है। समाचार-पत्र अपराधों को आकर्षक तथा उत्तेजक ढंग से छापते हैं। इससे किशोरावस्था की इच्छायें साहसपूर्ण कार्य करने की हो जाती हैं और कुछ बालक अनुकरण द्वारा इस उत्तेजना को पूरी तौर पर अनुभव करने की इच्छा रखने लगते हैं। कभी-कभी समाचार-पत्र ऐसी भावनाओं को जागृत करते हैं कि अव्यवस्था के द्वारा ही चाही वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। कभी-कभी ये अपचारी को प्रतिष्ठा देकर इतना ऊपर उठा देते हैं कि अपचारी इससे गर्व अनुभव करने लगता है। यह भावना दूसरे अबोध बालकों के लिए प्रेरणा बन जाती है। पॉल रॉबिन्सन के विचार में अखबारों में छपने वाली अपचार सम्बन्धी सनसनी खेज खबरें बाल-अपचार को बढ़ावा देती हैं; क्योंकि इस प्रकार की खबरें उन बालकों तथा वयस्कों के मन को छू जाती हैं, जिनमें सोचने-विचारने की क्षमता का अभाव होता है (डेलान्ड पॉल, १९४७, पृ० ३-५)। इस प्रकार समाचार-पत्र प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बालकों में अपचार-वृद्धि में सहसंचारी कारक के रूप में क्रियाशील होते हैं।

समाचार-पत्र के बाद रेडियो और टेलीविजन का प्रभाव बालकों पर पड़ता है। रेडियो पर अनेक तरह की रोचक एवम् उत्तेजक बातें सुनकर तथा टेलीविजन में इस प्रकार के दृश्य देखकर बालकों में हिंसा, तनाव, संघर्ष, निराशा आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं। रेडियों विज्ञापन के सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम हैं। कभी-कभी रेडियो के माध्यम से गलत समाचार प्रसारित किये जाते हैं जिससे अपचारों में वृद्धि होती है। अप्रैल १९४८ में बाल न्यायालय की राष्ट्रीय समिति ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि अनेक रेडियो प्रसारण अमेरिका के नागरिकों पर पूरा प्रभाव डालते हैं। लेकिन प्रायः देखा जाता है कि इस उम्र के बालक रेडियो और समाचार-पत्र अधिक नहीं पढ़ते। इस कारण इसका ज्यादा प्रभाव बालकों पर नहीं पड़ता।

टेलीविजन का बालकों पर सबसे ज्यादा प्रभाव रहा है, क्योंकि उनका भावात्मक झुकाव होता है इसके प्रभाव को जानने के लिये अनेक अध्ययन हुए हैं। सचराम (१९६१, पृ० २९७)

तथा उसके साथियों ने ६,००० बच्चों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि टेलीविजन देखने वाले बच्चों में प्रत्येक में अपचारिता के लक्षण देखे गये। बाल-अपचार उपसमिति की ८५वीं बैठक की रिपोर्ट में भी कहा गया कि 'टेलीविजन पर अपचारों की पृष्ठभूमि में दिखाये गये दृश्यों का बच्चों पर सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ता है' (रिपोर्ट आन टेलीविजन एण्ड जुविनाईल डलिन्कन्सी १९५५)। आजकल हर घर में टेलीविजन का प्रचलन होने से बालक इसे बहुत ज्यादा प्रभावित हुए हैं। आधुनिक युग में वीडियो का भी प्रभाव बालकों पर देखा गया है, जो पश्चिमी संस्कृति की ही देन है।

रेडियो, टेलीविजन और वीडियो के पश्चात् जो सबसे ज्यादा बालकों के व्यक्तित्व तथा विचारों को प्रभावित करता है वह है सिनेमा। सिनेमा बाल-अपचार और समाज-विरोधी व्यवहार के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। सिनेमा के प्रभाव के सम्बन्ध में एण्ड् बूचमैन का कहना है कि 'सिनेमा स्वयं बालक का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, इसमें प्रवेश करते ही व्यक्ति ग्लैमर की दुनिया 'मे प्रवेश करते हैं।' सिनेमा का प्रभाव बालक पर दो तरह से पड़ता है, एक तो बालक सिनेमा हाल के बाहर लगे पोस्टरों को देखकर तथा वहाँ के आस-पास की परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित होते हैं, दूसरी ओर बालक सिनेमा घर के भीतर सिनेमा देखकर उससे प्रभावित होता है।

वर्तमान समय में तो बालक सिनेमा से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं और उनकी मुख्य रुचि सिनेमा देखने में ही है। जैसाकि प्रस्तुत अध्ययन में भी पाया गया कि ६९.० प्रतिशत बाल-अपचारियों की रुचि सिनेमा देखने में थी तथा ३१.० प्रतिशत बाल-अपचारियों की रुचि अन्य चीजों जैसे—खेलना, पतंग उड़ाना आदि में थी।

आंकड़ों से यह भी स्पष्ट हुआ कि २६.० प्रतिशत बाल अपचारी महीने में एक बार, १४.५ प्रतिशत कभी-कभी सिनेमा देखने जाते थे, २१.५ प्रतिशत सप्ताह में एक बार सिनेमा देखने जाते थे सिर्फ ३१.० प्रतिशत बाल-अपचारी ऐसे थे जो सिनेमा देखना पसन्द ही नहीं करते थे। स्पष्ट है कि बालकों में सिनेमा के प्रति अत्यधिक झुकाव है। प्रश्न उठता है कि बाल-अपचारी सिनेमा देखने जाते थे तो किसी से आज्ञा लेते थे या नहीं ? आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि ३१.५ प्रतिशत बाल-अपचारी माता-पिता से बिना पूछे तथा २४.० प्रतिशत चोरी-छिपे सिनेमा देखने जाते थे, सिर्फ १२.५ प्रतिशत बाल-अपचारी ऐसे थे, जो माता-पिता से पूछकर सिनेमा देखने जाते थे।

शोध के आंकड़े यह भी स्पष्ट करते हैं कि ३७.० प्रतिशत बाल-अपचारी ऐसे थे जिनके माता-पिता उनसे बिना अनुमति लिए सिनेमा जाने पर उनकी कोई खोज-खबर नहीं लेते थे। वे इस बात की परवाह नहीं करते थे कि बालक कहाँ जाता है व क्या करता है ? इस प्रकार जब माता-पिता के उपेक्षात्मक व्यवहार को बालक देखता है तो वह और भी अधिक सिनेमा की ओर उन्मुख हो जाता है। इसके साथ ही अध्ययन में पाया गया कि २९.० प्रतिशत बाल

अपचारी के माता-पिता बिना अनुमति लिए जाने पर डाँटते थे तथा ३७.० प्रतिशत के माता-पिता बिना अनुमति लिए सिनेमा जाने पर उनकी कोई परवाह नहीं करते थे।

आंकड़ों से यह भी स्पष्ट हुआ कि २९.०७ प्रतिशत बाल-अपचारी मित्रों के साथ सिनेमा जाते थे। इसमें अधिकांश ऐसे बालक थे जो स्कूल जाने का बहाना बनाकर सिनेमा देखने जाते थे। चलचित्र में उत्तेजक दृश्य आने पर सीटी बजाना, सिनेमा समाप्त होने पर सड़क के किनारे खड़े होकर गुजरती महिलाओं पर अनेक अभद्र टीका-टिप्पणी करना, पान, बीड़ी, सिगरेट पीना, सिनेमा के गीत गाना इनके लिए आम बात है। चलचित्र दर्शन के लिए बाल-अपचारियों को पैसा कहाँ से मिलता है, इस सम्बन्ध में प्राप्त आंकड़ों से ज्ञात हुआ कि ३३.० प्रतिशत बाल अपचारी स्वयं कार्य करके या माता-पिता से पैसे लेकर सिनेमा देखते थे तथा १८.०० प्रतिशत जुआ खेलकर, १२.० प्रतिशत चोरी करके तथा ६.० प्रतिशत जेब कतर कर सिनेमा देखने जाया करते थे। स्पष्ट है कि अधिकांश बाल-अपचारी असामाजिक कार्यों द्वारा सिनेमा जाने के लिए पैसा इकट्ठा करते थे।

उपरोक्त समस्त तथ्यों को देखने से स्पष्ट होता है कि अधिकांश बालक सिनेमा देखना पसन्द करते थे। इस प्रकार सिनेमा उनमें अनेक उत्तेजनायें तथा कुविचार पैदा करता है। इससे अनेक अपचारी व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता है। १९३३ में ब्लूमर (१९३३, पृ० १९८-९९) ने चलचित्र के प्रभाव के अध्ययन में पाया कि चलचित्र खतरा मोल लेने के गुण को विकसित करते हैं, दिवा स्वप्न पैदा करते हैं, आसानी से रुपया कमाने की इच्छा को प्रोत्साहित करते हैं तथा अपचारित्व की शिक्षा देते हैं। उन्होंने अपने अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि चलचित्र देखने वाले बालकों में अपचारों से सम्बन्धित उत्तेजनाएँ और विचार उत्पन्न होते हैं। समय बीतने पर इनका पूर्ण रूप से लोप भी हो सकता है या यह जीवन के साथ गूढ़ता से घुल-मिल भी जाते हैं।

न्यूकाम्ब (१९५०, पृ० ९१) का विचार है कि चलचित्र व्यक्तियों को जीवन का क्षणिक दर्शन प्रदान करते हैं और अपचार करने के तरीके सिखाते हैं; क्योंकि बच्चे अभि-नेताओं की भाषा व आचरण का अनुसरण शीघ्र करते हैं। सदरलैण्ड (१९६५, पृ० २१५) ने भी चलचित्रों के कुप्रभाव पर बल दिया है उनका कहना है कि बहुत से बालक सिनेमा देखने से चोरी व राहजनी सीखते हैं, गिरोह बनाते हैं तथा सिनेमा में दिखाये गये अपचार करने के तरीकों को अपनाते हैं।

इस तरह के कुछ उदाहरण भारत में भी मिलते हैं। कुछ वर्ष पहले एक अपचारी ने एक अंग्रेजी फिल्म 'हाउ टू स्टील ए मिलियन' देखने के बाद एक म्यूजियम में घुसने और एक लाख के मूल्य की वस्तुएँ चुराने में वह तरीका अपनाया जो कुछ घण्टे पूर्व उसने पिक्चर में देखा था। इसी प्रकार 'पाकेटमार', 'आवारा', 'ग्रेट गैम्बलर' फिल्म देखकर घर से भागे हुए बालकों द्वारा अपचार करना भी उन पर सिनेमा के प्रभाव को दर्शाता है। दिल्ली में एक प्रमुख पब्लिक स्कूल के उच्च माध्यमिक कक्षा के तीन लड़कों ने पूर्व-निश्चित योजनानुसार दिन

के समय एक घर में चोरी की और पकड़े जाने पर उन्होंने बताया कि चोरी करने का तरीका उन्होंने उसी समय दिल्ली में चल रही एक फिल्म 'एण्डरसन टेप्स' से सीखा था। एक लड़कों के गिरोह ने एक जर्मन पिक्चर 'द ग्रेट ट्रेन रॉबरी' देखने के बाद एक मेल ट्रेन को लूटा था (द इण्डियन पुलिस जरनल, अंक १९; २, १९७२:३५)।

भारत में १९६१-१९८१ के मध्य बनी फिल्मों में विषय सम्बन्धी वर्गीकरण से ज्ञात होता है कि अपचार विधियाँ दिखाने वाली फिल्म बनाने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी है। १९६१ में ऐसी केवल ३० फिल्में १९६५ में ४६, १९६७ में ६७, १९७० में ७१, १९७४ में ८७ १९७७ में ९१ और १९७९ में १०७ बनीं। इन फिल्मों में दिखाये गये लड़कियों से छेड़-छाड़ के तरीके, चोरी व लूट के उपाय तथा पुलिस से बचने की विधियां आदि युवकों के मन पर घनिष्ट प्रभाव डालती हैं और उनसे अपचारी मनोवृत्तियाँ पनपती हैं।

सिनेमा का प्रभाव बालक के आचरण और क्रिया-कलापों पर ही नहीं पड़ता है बल्कि बालक के सोचने और रहने के ढंग पर भी पड़ता है डब्ल्यू० डी० बाल की अध्यक्षता में किये गये एक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि सिनेमा का प्रभाव बालकों के बाहरी प्रतिमान पर ज्यादा पड़ता है जैसे—बाल बनाने, वस्त्र पहनने, बात करने के ढंग, नृत्य करने के ढंग आदि सभी बातें बालक सिनेमा से ही सीखता है। सबसे अधिक प्रभाव बालक के व्यक्तित्व पर पड़ता है, जिसमें भावात्मक अस्थिरता और तनाव सम्मिलित थे। इन पिक्चरों को देखकर बालक समझ नहीं पाता कि क्या सही है और क्या गलत, परन्तु यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि फिल्मों का कुप्रभाव कमजोर पृष्ठभूमि वाले बच्चों पर ही अधिक पड़ता है। न्यूकॉम्ब (१९५० : ९४) ने कहा कि फिल्मों का प्रभाव व्यक्तियों की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है।

यद्यपि सिनेमा का प्रभाव बालक पर पड़ता है लेकिन सिनेमा और बाल-अपचार में कोई घनिष्ट सम्बन्ध है या नहीं ? इस पर कोई विशेष अध्ययन नहीं है। ब्लूमर (१९३३: १९८-१९९) ने ३६८ बाल-अपचारियों के अध्ययन में पाया कि १०.० प्रतिशत बालक यह स्वीकार करते हैं कि उनकी अपचारी-क्रियायें उत्तेजनात्मक फिल्मों से जुड़ी हुई हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में अभी तक कोई महत्वपूर्ण सांख्यिकीय अध्ययन नहीं प्राप्त हुआ है जो इन दोनों के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्धों को प्रदर्शित करे। कानपुर में किये गये एक अध्ययन में बाल-अपचारियों के सुधारात्मक उपचार से पहले ६६.० प्रतिशत बाल-अपचारी सिनेमा जाने की आदत से पहले ही अपचारी थे, न कि सिनेमा जाने के बाद अपचारी बने। लेकिन ९.० प्रतिशत बालक सिनेमा देखने के बाद अपचारी बने अतः भारत में सिनेमा बाल-अपचारिता का एक कारक जरूर है लेकिन उनका प्रमुख कारक नहीं। यद्यपि सिनेमा का बुरा प्रभाव बालक पर पड़ता है लेकिन कभी कभी बालक के व्यक्तित्व के विकास में भी योग देता है जैसाकि बानर्स एण्ड टीटर्स (१९४७, पृ० ३३३) ने कहा कि हम यह स्वीकार करते हैं कि उत्तेजनात्मक फिल्में

हमारी संस्कृति की रूपरेखा के आधार पर बनती हैं। इसलिये सिनेमा बालक के व्यक्तित्व के विकास में एक योगदान देने वाला कारक अवश्य है।

मनोरंजन के विभिन्न साधनों—समाचार-पत्र, रेडियो, टी० वी०, सिनेमा आदि के अतिरिक्त दूषित साहित्य का भी बालकों के विचार और दृष्टिकोणों पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान शोध के आंकड़ों से ज्ञात हुआ कि जो बालक जासूसी उपन्यास पढ़ते हैं उनका प्रभाव बालकों पर बहुत बुरा पड़ता है। यह बालकों की इच्छाओं और अनुभवों को उत्तेजित करते हैं। कभी-कभी इन किताबों को पढ़कर बालकों में विद्रोही भावना आ जाती है और वह भी बुरे कार्यों में फंस जाता है। इस तरह की किताबें बालक की चिन्तन प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। इससे बालक दिवास्वप्न देखने लगता है जिससे बालक छोटी-मोटी चोरी करना तथा जेब कतरना भी सीख जाता है। यह सच है कि इस तरह की किताबों से प्रभावित होना या न होना यह बालक की मानसिकता पर निर्भर करता है यह जानना कठिन है कि किस स्तर पर बालक आकर इससे प्रभावित होता है। उसे कौन सी परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं। इस प्रकार इसे बाल-अपचार का अकेला कारक नहीं माना जा सकता। इतना अवश्य है कि रेडियो, चल-चित्र, समाचारपत्र, जासूसी उपन्यासों के प्रभावों को बाल-अपचारिता से सम्बन्धित करते समय हमें बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। इनके प्रभावों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इस महत्वपूर्ण तथ्य पर भी विचार करें कि देखने वाले बालक किस प्रकार के हैं जैसे कि कुछ व्यक्ति यह कह सकते हैं कि हमने शरलाक होम्स के उपन्यास पढ़ कर सर्वप्रथम उपचार करना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार दूसरे यह दावा करते हैं कि उन्होंने चलचित्र देखकर डकैती, चोरी करना सीखा। सत्यता यह जान पड़ती है कि चलचित्र, पत्र-पत्रिकाएं, टेलीविजन आदि तभी अपचार के प्रभावक हो सकते हैं जब बालकों की पृष्ठभूमि पहले से ही कमजोर हो।

इस प्रकार मनोरंजन के विभिन्न प्रभावों का अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अवकाश के क्षणों में बालक में कभी-कभी आदतों का प्रादुर्भाव होता है जैसे सिगरेट पीना, जुआ खेलना, शराब पीना, गांजा, भाँग पीना आदि। इनका प्रभाव बालक के स्वस्थ चरित्र और कोमल मस्तिष्क पर पड़ता है। ये सभी आदतें बालक समूह में रहकर सीखता और मनोरंजन के तौर पर करता है। जब वह देखता है कि अपचारी क्रियाएं अत्यधिक मनोरंजक हैं तो वह भी शीघ्र उसे अपने जीवन में उतार लेता है। आंकड़ों से स्पष्ट है कि ४३.० प्रतिशत बाल अपचारियों को सिगरेट, बीड़ी पीने की आदत थी। १९.० प्रतिशत बालक को जुआ खेलने की, १५.० प्रतिशत को गांजा, भांग, तम्बाकू की आदत थी। सिगरेट पीने की आदत समूह में रहने से बढ़ती है। इस अर्थ में जब एक बालक अपचारी बालकों के सम्पर्क में आ जाता है तो कम या अधिक वह सिगरेट पीने की ओर प्रवृत्त हो जाता है। धूम्रपान करने वाले बालक प्रायः १३ से १७ वर्ष की आयु के होते हैं। अधिकतर बस्ती क्षेत्र में रहने वाले बालक धूम्रपान या बीड़ी पीते हैं। माता पिता के अनियन्त्रित व्यवहार के

कारण ही ये आदत बच्चों में पड़ जाती हैं। बालक के सिगरेट पीने में पर्यावरण की मुख्य भूमिका होती है। माता-पिता यदि सिगरेट पीते हैं तो बच्चे भी उस आदत को अपनायेंगे। सिगरेट, बीड़ी पीने के अतिरिक्त कुछ बालक जुआ भी खेलते हैं।

इन समस्त तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि अवकाश के क्षणों में बालक कुछ अच्छी बातों से अपना मनोरंजन करते हैं और कुछ बुरी बातों द्वारा। अतः बालक अवकाश के क्षणों का दुरुपयोग न करके, उसका सदुपयोग करें, इसके लिए आवश्यक है कि बालकों के लिए ऐसे कार्यक्रम चलाये जायें ताकि बालकों का ध्यान गलत बातों पर न जाये। साथ ही ऐसे क्षेत्र जहाँ बाल-अपचार की घटनाएँ रोज घटा करती हैं; मनोरंजन की सुविधाएँ उपलब्ध की जानी चाहिए परन्तु इन मनोरंजन के साधनों के बारे में अत्यधिक सावधानी भी रखने की आवश्यकता है। अधिकांश बच्चे दोषपूर्ण चलचित्र तथा अश्लील साहित्य से अपचार की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह आवश्यक है कि अपचारी तथा कामोत्तेजक कथानक से भरपूर चलचित्रों पर सेंसर के नियम अधिक कड़े हों तथा किसी भी स्थिति में एक निश्चित आयु के बच्चों को चलचित्र देखने की अनुमति प्रदान न की जाए।

सन्दर्भ

डेलान्ड पॉल	'क्राइम न्यूज इनकरेजप डेलिक्वेन्सी एण्ड क्राइम' फेडरल प्रोवेशन, वाल्यूम ११, नं० २, अप्रैल-जून १९४७.
	रिपोर्ट आन टेलिविजन एण्ड जुविनाइल डेलिन्कन्सी
राविन्सन, एस० एम०	जुविनाइल डेलिन्कन्सी, न्यूयार्क, १९६०.
ब्लूमर, एच० एण्ड हाउजर, पी० एम०	मूभि डेलिन्कन्सी एण्ड क्राइम, मैकमिलन कं०, १९३३.
न्यूकांम्ब	सोशल साइकोलोजी न्यूयार्क, १९५०.
सदरलैण्ड	प्रिन्सपलस आफ क्रिमनालोजी, न्यूयार्क, जे० बी० लिपीनकोट को०, १९६६.
	द इण्डियन पुलिस जरनल, अंक १९ : २, १९७२ : ३५
वानर्स, एच० ई० एण्ड टीटर्स, एन० के०	न्यू होरिज़न्स इन क्रिमनालाजी, इंग्लेण्ड प्रिन्टीसहाल अंक, १९४७

आदिम चिन्तन एवं आदिम मानव का चिन्तन

एलविन जे० मुकर्जी

आदिम मानव कौन है ? किस समाज को आदिम समाज की संज्ञा दी जानी चाहिये ? इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन्होंने सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानव विज्ञान के क्षेत्र में अनेक मतभेदों तथा प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया है । कुछ मानव विज्ञानी आदिम समाजों को 'पूर्व-शिक्षित समुदाय' (Pre-Literate Community) के आधार पर तथा कुछ 'सभ्यता के पिछड़ेपन' के आधार पर परिभाषित करते हैं । वास्तविकता तो यह है कि हम आदिम समाज एवं आदिम मानव को चाहे जिस प्रकार से भी समझें एक तथ्य निश्चित रूप से विदित होता है कि आदिम समाजों में कुछ ऐसा अवश्य ही है जो कि उन्हें विकसित एवं आधुनिक समाजों से स्पष्ट रूप से अलग करता है । इस विभिन्नता को प्रायः मानवशास्त्रियों ने 'पिछड़ेपन' की संज्ञा दी है । कुछ मानवशास्त्री आदिम समाजों को पिछड़ेपन की संज्ञा दिये जाने का कड़ा विरोध प्रकट करते हैं तथा इस विचार पर बल देते हैं कि कुछ अर्थों में आदिम मानव आज के आधुनिक एवं शिक्षित मानव से नैतिक दृष्टिकोण से कहीं अधिक विकसित है । निस्संदेह-संसार में कुख ऐसे जनजातीय समुदाय हैं जो सामाजिक असमानता, प्रतिस्पर्धा, आपसी मतभेद एवं अपराध जैसी बुराइयों से अनभिज्ञ हैं—परन्तु क्या केवल इस आधार पर इन समुदायों को एक 'विकसित समाज' की संज्ञा दी जा सकती है ? निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही होना चाहिये, परन्तु फिर भी इस विचार की स्वीकृति के सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों की प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही है । इसका एक मात्र कारण 'आदिम मानव' एवं 'आदिम समाज' के प्रत्यय के साथ 'पिछड़ेपन' (Backwardness) व 'मानसिक हीनता' (Mental Inferiority) जैसे भावों का जोड़ा जाना है ।

यहाँ पर यह कहना उचित होगा कि आदिम समाजों के पिछड़ेपन का आशय उनकी किसी भी प्रकार की जैविकीय एवं आनुवंशिक मानसिक व शारीरिक हीनता से कदापि नहीं है । 'आदिम' शब्द का संपृक्तार्थ केवल 'आदिकालीन', 'प्रारम्भिक', 'प्रथम' अथवा 'और न विक-

---

एलविन जे० मुकर्जी, प्रवक्ता, समाज शास्त्र विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कालेज, लखनऊ ।

सित हुये समाज' से ही है। अत: इन सभी अर्थों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'आदिम समाज' वे समुदाय हैं जो केवल एक सरल एवं सीमित 'तकनीक' तक ही सीमित हैं, जो किसी जटिल आर्थिक तंत्र से अपरिचित हैं, राजनीतिक व्यवस्था के क्षेत्र में जिनके पास 'राज्य व्यवस्था' उपलब्ध नहीं होती, तथा 'सांस्कृतिक व्यवस्था' के क्षेत्र में जिनके पास कोई विकसित इतिहास का लेखा-जोखा भी नहीं होता।

उपर्युक्त सभी अर्थ एक विशेष तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि 'इतिहास' 'मानव अस्तित्व' के स्वरूपों का निम्नस्तर से उच्चस्तर तक का विकास है' (Dux, १९८२)। मानव इतिहास के इस विकास क्रम में यदि मानव जीवन के नैतिक पक्ष को ही देखा जाय तो ज्ञात होगा कि 'जीवन के नैतिक स्वरूपों' (Moral Forms of Life) में क्रमश: परिवर्तन होने के पश्चात् ही मानव सभ्यता 'बर्बरता' एवं 'जंगलीपन' (Barbarism & Savagery) के चरणों से होकर आधुनिक 'मानवतावादी युग' (Humanistic Age) में पहुँची है।

अत: मानव जीवन का चाहे आर्थिक पहलू हो, चाहें सांस्कृतिक एवं धार्मिक, अथवा नैतिक एवं बौद्धिक-सभी के अन्तर्गत एक निश्चित विकास की दिशा में परिवर्तन घटित हुआ है। वास्तव में मानव जीवन के इन सभी पक्षों में होने वाले विकास का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव द्वारा उद्विकसित संज्ञान (Cognition) से है। संज्ञान का उद्विकास मानव द्वारा सीखने की प्रक्रिया के माध्यम से बौद्धिक क्षमताओं की उपलब्धियाँ नहीं तो फिर क्या है ? अत: यदि मानव इतिहास संज्ञानात्मक क्षमताओं का क्रमिक विकास है तो आदिम समाजों को निश्चित रूप से निम्न स्तर की बौद्धिक क्षमताओं के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है।

यहाँ पर मैं पुन: कहना चाहूंगा कि 'आदिम मानव' की 'सीमित संज्ञानात्मक क्षमता' का सम्बन्ध उसकी 'आनुवंशिक कूट' (Genetie Code) से न होकर उसके ज्ञान के उद्विकास क्रम में प्रारम्भिक स्तरों तक सीमित रह जाने के कारणवश अवरोधित विकास (Arrested Development) से है।

उद्विकासात्मक प्रक्रिया वास्तव में पशु से मानव तक के अन्तराल में होने वाले परिवर्तनों को दर्शाती है, अर्थात् मानव उद्विकास पशु द्वारा अपने पर्यावरण से धीरे-धीरे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर अपने संसार को अर्थपूर्ण बनाने का इतिहास है। पशु स्तर पर संसार अर्थ पूर्ण न होकर केवल एक भौतिक, प्राकृतिक पर्यावरण ही है जिसके साथ पशु को केवल जैविकीय आधार पर अनुकूलन स्थापित करना अनिवार्य होता है। इसके विपरीत, मानव तथा पर्यावरण का सम्बन्ध केवल जैविकीय एवं भौतिक ही नहीं वरन् मानसिक भी होता है। मानव एवं पर्यावरण के मध्य मानसिक सम्बन्ध होने के कारण ही मनुष्य अपनी भौतिक परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता विकसित कर पाया है। पशु तो केवल स्वयं को ही (जैविकीय आधार पर) बाहरी पर्यावरण के अनुकूल बनाता है।

जीवन के मानवीय स्वरूपों का मानवविज्ञानीय स्रोत

बौद्धिक अथवा ज्ञान के विकास की अनिवार्यता मानवीय जीवन स्वरूपों के संगठन में ही निहित है। अर्थात एक विशिष्ट प्रकार के 'मानवीय जीवन स्वरूपों' के उत्पन्न होने का एक मात्र कारण मनुष्य द्वारा अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अपने जीवन तथा भौतिक संसार से सम्बन्धित संज्ञानात्मक क्षमता अर्जित किया जाना है। मानव संज्ञान के विकास (मुख्यत: ज्ञान के निरपेक्ष स्वरूपों—Categorical Forms of Knowledge–का निर्माण) का आरम्भ मानव जीवन इतिहास के प्रारम्भिक चरणों में ही हो जाता है। ऐसा होना अनिवार्य ही है क्योंकि 'मूल संज्ञानात्मक क्षमताओं' के अभाव में मनुष्य का जीवन यापन सम्भव नहीं हो पाता, अत: सभी कालों तथा सभी समाजों में बौद्धिक विकास की प्रक्रिया मानव जीवन के प्राचीनतम अथवा प्रारम्भिक चरणों में ही आरम्भ हुई होगी। इस निष्कर्ष के आधार पर ही हम आदिम मानव तथा आदिम समाज की अवधारणा निर्मित कर सकते हैं। संक्षेप में, आदिम समाज वे समुदाय हैं जिनके द्वारा निर्मित 'संज्ञान के निरपेक्ष स्वरूप' (Categorical Forms of Cognition) अपने उद्विकास क्रम में और आगे तक विकसित न हो पाने के कारण मानव इतिहास के प्रारम्भिक चरणों (Early Stages of Human History) तक ही सीमित रह गये हैं।

'आदिम मानसिकता' एवं 'सांस्कृतिक सापेक्षवाद'

सामाजिक मानव विज्ञान के क्षेत्र में आदिम समाजों में व्याप्त 'आदिम मानसिकता' (Primitive Mentality) का अध्ययन कोई नवीनता नहीं रखता। ईवान्स प्रिट्चर्ड (Evans Pritchard) से लेकर टाइलर (Tylor), बोआज़ (Boaz), आलब्राइट (Albright), चैम्बरलेन (Chamber Laine), सरविस (Service) इत्यादि मानव वैज्ञानिकों ने आदिम मानव जीवन के सांस्कृतिक, एवं सामाजिक पहलुओं (उदाहरणार्थ : जादू, टोना, अन्धविश्वास, रीतिरिवाज, तथा तकनीकी, इत्यादि) का अध्ययन इसी संदर्भ में किया है। परन्तु ऐतिहासिक एवं विकासात्मक दृष्टिकोणों को अपनाने के बावजूद भी ये सभी विचारक स्वयं को 'सांस्कृतिक-सापेक्षवाद' (Cultural Relativism) की विचार धारा से परे ले जा सकने में सफल नहीं हुये। सांस्कृतिक सापेक्षवादी विचारकों की आधारभूत मान्यता यह है कि आदिम मानव जीवन के विभिन्न पहलू (विशेषतय: व्यक्तित्व एवं संज्ञान) प्रत्यक्ष रूप से संस्कृति से सम्बद्ध होते हैं। अर्थात यह विचारधारा इस विश्वास को मान्यता देती है कि व्यक्तित्व के सभी पहलू (जैसे चिंतन, बुद्धि, स्मृति, प्रत्यक्षज्ञान इत्यादि) संस्कृति के अनुरूप ही विकसित होते हैं। मानवविज्ञान के अतिरिक्त, समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी इमाइल दुरर्वाइम (Emile Durkheim) जैसे विचारक भी इस विचार धारा के प्रधान समर्थक रहे हैं। इमाइल दुर्खाइम (Durkheim, १९४७ p. १६) ने तो यहाँ तक कहा था कि संसार से सम्बन्धित ज्ञान (मूल निरपेक्ष स्वरूप, विशेषतया बल (Force) एवं कारण (Causality) की उत्पत्ति) 'सामूहिक

चेतना' (Collective Consciousness) अथवा 'सामूहिक मन' (Group mind) की ही उपज है। इसके अतिरिक्त लूरिया (Luria, १९७६) तथा ब्रूनर (Bruner, १९६६) जैसे आधुनिक समाज विचारकों ने भी संस्कृति एवं संज्ञान (Culture and Cognition) के पारस्परिक सम्बन्ध को सापेक्षवादी विचारधारा के आधार पर ही निर्धारित किया है। अत: निश्चय ही यह मतभेद का विषय है कि बुद्धि का विकास पूर्व कल्पित संस्कृति के उद्विकास द्वारा निर्धारित किया जाय अथवा यह समझा जाय कि सांस्कृतिक विभिन्नतायें संज्ञानात्मक विभिन्नताओं को प्रदर्शित करती हैं।

नि:संदेह वाह्य पर्यावरण के विभिन्न कारक (आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी, इत्यादि) मनुष्य की चिंतन पद्धति को प्रभावित ही नहीं करते बल्कि उसे एक निश्चित स्वरूप भी प्रदान करते हैं। फिर भी यह कहना पूर्णतया सही नहीं है कि सांस्कृतिक कारक प्रत्यक्ष रूप से 'चिंतन प्रक्रियाओं' (Thought Process) को निर्धारित करके उन्हें एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं।

यदि चिन्तन का स्रोत सांस्कृतिक परिवेश है तो प्रश्न उठता है कि संस्कृति का स्रोत क्या है ? इसी प्रकार, यदि वैज्ञानिक एवं तार्किक चिन्तन आधुनिक व औद्योगिक समाजों की देन है तो फिर स्वयं औद्योगीकरण एवं वैज्ञानिक प्रगति का आधार क्या है ? 'सांस्कृतिक सापेक्षवाद' जहाँ एक ओर संस्कृति को प्रधानता देता है वहीं दूसरी ओर संस्कृति के विकासात्मक पक्ष को पृष्ठभूमि में ही छोड़ देता है। वास्तविकता तो यह है कि संस्कृति का निम्न स्तर से उच्च स्तरों तक का विकास मनुष्य के बौद्धिक विकास को ही दर्शाता है। यह कथन इस कारण से भी सत्य है कि आदिम स्तर से सभ्यता के स्तर तक के सांस्कृतिक उद्विकास को कदाचित् मानव-ज्ञान के विकास को ध्यान में रखे बिना कैसे समझा जा सकता है ? यह दृष्टिकोण इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि संस्कृति का आधार संज्ञान ही है। अर्थात मानव समाज धीरे-धीरे एक शिक्षित एवं स्वत: संचालित (Autonomous) अवस्था में उद्विकसित हुआ है। यह उद्विकास वास्तव में मनुष्य द्वारा अर्जित अधिक प्रबल एवं उच्च कोटि की संरचना में (More Powerful higher order Structures) ही है (Piaget १९७१ तथा, Werner १९४८)। अर्थात् जितना अधिक विकास होगा, उतनी ही अधिक प्रबल संरचनायें होगीं, तथा साथ ही साथ सावयव (Organism) की उसके पर्यावरण के साथ उतनी ही अधिक अनुकूलनशीलता भी होगी।

आदिम मानव का 'पूर्व-तार्किक चिन्तन'

फ्रान्सीसी मानवशास्त्री, लेवी ब्रूहल (Levi Bruhl) प्रथम विचारक थे जिन्होंने आदिम विचार प्रक्रियाओं (Primitive Thought Processes) के गुणात्मक पहलुओं की ओर संकेत किया तथा तार्किक प्रक्रियाओं (Logical Processes) को ऐतिहासिक विकास की उपज स्वीकार किया। उन्होंने अपनी कृतियों में आदिम समाजों में व्याप्त आदिम चिन्तन के अनेक

उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। आदिम चिन्तन पद्धति के अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि आदिम चिन्तन (Primitive Thought) अपने ही नियमों द्वारा संचालित होता है। अतः आदिम चिन्तन अव्यवस्थित एवं 'सहभागिता के नियमों' (Laws of Participation) द्वारा कार्यान्वित होता है। इस प्रकार लेवी ब्रूहल का विश्वास था कि आदिम चिन्तन जादुई होता है तथा मानव चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु लेवी ब्रूहल आदिम चिन्तन की आधारभूत संज्ञानात्मक संरचनाओं की वैज्ञानिक रीति से गवेषणा कर पाने में असफल रहे। परिणामस्वरूप, वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आदिम चिन्तन आदिम मानव की रहस्यात्मक प्रकृति (Mystical Nature) के कारणवश 'पूर्व-तार्किक' (Pre-Logical) होता है। आदिम मानव की रहस्यात्मक प्रकृति, लेवी ब्रूहल (१९७५ Orig, १९४९) के अनुसार, आदिम समाज में व्याप्त परम्परागत विश्वास-व्यवस्था (Traditional Belief System) में निहित होती है। अतः इमाइल दुर्खाइम की ही भांति लेवी ब्रूहल ने भी आदिम मानसिकता के लिये 'सामूहिक प्रतिनिधित्व (Collective Representations) को ही उत्तरदायी माना है। इस दृष्टिकोण के आधार पर लेवी ब्रूहल भी वास्तव में सांस्कृतिक सापेक्षवाद से दूर नहीं हैं, जिसकी आलोचना हम इस लेख में पहले ही कर चुके हैं। परन्तु त्रुटिपूर्ण होने की अपेक्षा भी लेवी ब्रूहल श्रेय के पात्र है क्योंकि उन्होंने हमारे समक्ष इस तथ्य को प्रस्तुत किया कि आदि चिन्तन पूर्णतया तार्किक नहीं होता (Levi Bruhl १९७८, Orig, १९२३)। यह बात और है कि वे आदिम चिन्तन के आतार्किक आधारों की कोई वैज्ञानिक व्याख्या कर पाने में सफल न हो सके। मेरे समक्ष इस असमर्थता का एक मात्र कारण लेवी ब्रूहल के समयकाल में मानव चिन्तन प्रक्रिया में निहित अनिवार्य संक्रियाओं (Operations) को स्पष्ट करने योग्य ठोस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अभाव ही रहा होगा।

पियाजे (Piaget) के सिद्धान्त पर आधारित पिछड़े एवं अशिक्षित समाजों की संज्ञानात्मक क्षमताओं का अध्ययन

लगभग बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव चिन्तन की संज्ञानात्मक संरचनाओं की विकास प्रक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन का शुभारम्भ हुआ। इस सन्दर्भ में स्विटज़रलैंड के विख्यात मनोवैज्ञानिक 'पियाजे' (Piaget) का योगदान विशेषरूप से उल्लेखनीय है। पियाजे (Piaget १९५०) ने बाल चिन्तन पद्धति का प्रयोगात्मक अध्ययन किया तथा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि बाल काल में बुद्धि का विकास स्वयं सावयव (बालक) की पर्यावरण के साथ सक्रिय अन्तः क्रिया के उपरान्त अनिवार्य रूप से चार चरणों में सम्पन्न होता है। ये चरण इस प्रकार हैं : (1) Sensori-motoric; (2) Pre-Operational, (3) Concrete Operational, तथा (4) Formal Operational.

उपर्युक्त चारों चरण मुख्यतः दो प्रधान विकास क्रमों को दर्शाते हैं—प्रथम, पूर्व तार्किक अवस्था (Pre-Logical Stage) तथा दूसरा तार्किक अवस्था (Logical Stage)। Piaget

(१९३०) ने बौद्धिक विकास की प्रक्रिया को न केवल 'व्यक्ति वृत्त' स्तर (Onto genesis) तक ही समझा बल्कि उन्होंने इस ओर भी संकेत किया कि सम्पूर्ण मानव इतिहास अर्थात् जाति वृत्त (Phylo genesis) बौद्धिक विकास के इन्हीं चरणों को उदघाटित करता है। यदि मानव उद्विकासात्मक इतिहास में ऐसा ही घटित हुआ है तो निश्चय ही मानव संसार (Socio-Cultural and Intellectual Forms of Life) का उदय बौद्धिक विकास क्रम की प्रारम्भिक अवस्था (Pre-Operational अथवा Pre-Logical) से ही हुआ होगा।

निःसंदेह, मानव विकास की इस प्रारम्भिक अवस्था काल को सुनिश्चित कर पाना कोई सरल काम नहीं, परन्तु इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि मानव की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक उपलब्धियाँ एक लम्बे उद्विकास क्रम में स्वयं मानव के प्रयासों का ही परिणाम हैं। यदि ऐसा न हुआ होता तो मानव सभ्यता का कोई उद्विकासात्मक इतिहास भी न होता।

अतएव मानव के उद्विकासात्मक इतिहास के प्रारम्भिक काल में पुनः लौटकर जाना एवं उसका अवलोकन करना, अथवा दूसरे शब्दों में, मानव इतिहास की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं। अतः समकालीन आदिम समाजों को मानव इतिहास के आदि काल का प्रतिनिधि रूप मानकर उन समाजों की चिन्तन पद्धति एवं सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे के आधारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन कदाचित-उपर्युक्त परिकल्पना के सत्यापन में सहायक सिद्ध हुआ है।

गत पंद्रह वर्षों में विभिन्न मनोवैज्ञनिकों ने आदि समाजों एवं पिछड़े वर्गों के प्रौढ़ों के बौद्धिक स्तर का विस्तृत अध्ययन किया है। विशेषतया पियाजे (Piaget १९६६) प्रयोगात्मक पद्धति पर आधारित बोवेट (Bovet १९७४), डासन (Dasen १९७२), डी लोमोस (De Lemos १९६९), प्राइस विलियम्स (Price-Williams १९६१), प्रिन्स (Prince १९६८), पेलिफू (Peluffo १९६७), तथा मुकर्जी (Mukerjee १९८३) के अध्ययनों ने इस तथ्य से सम्बन्धित पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि (Concrete Operational) एवं (Formal Operational) (दोनों तार्किक स्तर) चिन्तन आदिम समाजों के प्रौढ़ों में अनिवार्य रूप से विकसित नहीं होते।

यहाँ पर यह कहना आवश्यक होगा कि किसी ऐसे आदिम समुदाय की कल्पना करना जो परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया से वंचित हो तथा आधुनिक औद्योगीकृत समाजों के प्रभाव से पूर्ण रूप से रहित हो, सम्भव नहीं। परन्तु इन सभी बाधाओं एवं सीमाओं के उपरान्त भी आदिम मानव के चिन्तन सम्बन्धी अध्ययनों ने (आधुनिक शिक्षित मानव की तुलना में) विभिन्न विलक्षणताओं को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है।

अतः आदिम समाजों में व्याप्त विभिन्न रूढ़ियाँ, प्रथायें, अंधविश्वास, जादू–टोना इत्यादि इन्हीं चिन्तन सम्बन्धी विलक्षणताओं का परिणाम हैं जिसका मूल कारण 'अतार्किक चिन्तन' (Pre-logical Thinking) ही है।

संदर्भ ग्रंथ

Bruner, J. S. (1966) 'On Cognitive Growth' I & 'On the Conservation of Liquids', In: Studies in Cognitive Growth, Eds., J. S. Bruner; R.R. Olver & P.M. Green field, New York : Wiley, 1-67 and 183-207.

Bovet, M.C. (1974) 'Cognitive processes among illiterate children and adults'. In : Culture and Cognition : Readings in cross Cultural Psychology Eds ; J.W. Berry & P.R. Dasen, London : Methuen, 311-334.

Dux, G. (1982) Die Logik der weltbild. Sinnstrukturen in wandel der Geschichte, Frankfurt 9. M : Suhr-kamp.

Durkheim, E. (1947) The Elementary Forms of Religious Life New York : Collier Books.

Dasen, P.R. (1972) 'Cross-Cultural Piagetian Research : A summary' Journal of Cross-Cultural Psychology, Vol, 3, No. I, 23-39.

De Lemos (1969) 'The Development of Conservation in Aboriginal Children.' International Journal of Psychology. Vol. 4, No. 4, 255-269.

Luria, A.R. (1976) Cognitive Development, Its Cultural and Social Foundations. Cambridge : Harward University Press.

Levy—Bruhl (1975, Orig : 1949) The Note books on Primitive Mentality. Oxford : Basil Blackwell,

……… ………(1978, Orig : 1923) Primitive Mentality. New York : A. M. S. Press.

Mukerjee, A. J. (1983· The Outogenesis of the Cognitive Structures and their Significance for the Intellectual Cultural History of Mankind : A Cross Cultural Study of the Development of Conservation of Liquid quantity (volume) in the preliterate traditional Adults and Children of Indian Villages. Memiographed publication of Inaugural Dissertation, Albert-Ludwing University, Freiburg, W. Germany.

Piaget, J. (1930) The Child's Conception of Causality, London : Routledge and Kegan Paul.

………………(1950) The Psychology of Intelligence, London: Routledge and Kegan Paul.

…… ………(1966) 'Need and Significance of Cross-Cultural Studies in Genetie Psychology'. International Journal of Psychology, 1 (1), 3-13.

………………(1971) Biology and Knowledge. An Essay on the Relations between Organic Regulations and Cognitive Processes, Chicago: The University of Chicago Press.

Price-Williams (1961) 'A Study Concerning Concepts of Conservation of quantities among primitive children'. Acta Psychologica, 18(4), 297-305.

Prince, J. R. (1968) 'Science Concepts in New Guinea and European Children'. Australian Journal of Education, 12, 81-89.

Peluffo, N. (1967) 'Culture and Cognitive Problems'. International Journal of Psychology, Vol. (2), No. (3), 187-198.

Werner, H. (1948) Comparative Psychology of Mental Development, Chicago: Follett.

आदिवासी स्तम्भ

संथाल पहाड़िया सेवा मंडल देवघर : शिक्षा पर मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण

संजय कुमार सिन्हा

बिहार का संथाल परगना क्षेत्र पिछड़े वर्ग एवं अनुसूचित जनजातियों से भरा पूरा क्षेत्र है। जहां गरीब, शोषित, उपेक्षित एवं दलित वर्ग में आने वाली अनुसूचित जनजातियों की संख्या सबसे अधिक है जिसमें मुख्यतः पहाड़िया जनजाति की जनसंख्या अधिक है। बिहार में पहाड़िया लोगों की जनसंख्या १,०७,६८३ है जिसमें १,०१,०९४ संथाल परगना में ही हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने जनजातियों के विकास के लिए कई रचनात्मक कार्यक्रम चलाएं हैं। साथ ही साथ कुछ स्वायत्त संस्थाएं भी इसकी सहायक भूमिका अदा कर रही हैं। सन १९४१ ई० में स्वर्गीय ठक्कर बापा की पुण्यतिथि के अवसर पर स्वर्गीय डा० राजेन्द्र प्रसाद प्रथम राष्ट्रपति के, सभापतित्व में संथाल पहाड़िया सेवा मंडल स्वायत्त संस्था की स्थापना हुई जिसका मुख्य उद्देश्य अनुसूचित जनजातियों के स्वास्थ्य एवं शिक्षा के संबंध में अध्ययन एवं रचनात्मक कार्य करना था। आदिवासियों में शिक्षा प्रचार के लिए ब्रिटिश सरकार का प्रयास नहीं के बराबर रहा। जो कुछ भी उनका प्रयास था। उसके उद्देश्य थे, प्रथम आदिवासियों को इसाई धर्म में दीक्षित करना और उनमें से कुछ लोगों को अपने प्रचारक के रूप में बनाकर रखना। यही कारण है कि अंग्रेजो शासन के दो सौ वर्ष में आदिवासी लोग अज्ञान के गहन अन्धकार में भटकते रहे। उनकी भाषा, रीति-रिवाज, उनके गीत, उनकी कथा कहानियां आदि का अध्ययन अंग्रेज मिशनरियों और शासकों ने किया लेकिन वे एक आदिवासी के रूप में विकसित और शिक्षित न हो सके, उनका समाज तथा जीवन सुशिक्षित और परिष्कृत हो इसकी ओर अंग्रेजो ने कभी ध्यान नहीं दिया।

इनके दो कारण थे। शिक्षित भारतीयों से अंग्रेज लोग भय खाते थे उस समय का अधिकांश शिक्षित समाज अंग्रेज शासन के विरुद्ध हो गया था। और यह विरोध शिक्षा के प्रसार

संजय कुमार सिन्हा, रिसर्च फेलो, बिहार जन कल्याण शोध संस्थान, मोरावादी, रांची, गृह मंत्रालय, भारत सरकार।

के साथ बढ़ता जा रहा था । अंग्रेज विरोधी आन्दोलन के सूत्रधार भारत वर्ष में उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीय ही थे । गांधी जी के भारतीय राजनीति में प्रवेश के पूर्व अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आवाज उठाने वाले केवल शिक्षित भारतीय ही थे । अंग्रेजों को आदिवासियों की आंतरिक शक्ति का पता था । संथाल परगना में संथाल विद्रोह के रूप में तथा रांची में बिरसा आन्दोलन के रूप में इनकी शक्ति का पता चल गया था ।

अंग्रेजों को यह भी पता था कि इनका सामाजिक संगठन विशुद्ध गणतन्त्रीय पद्धति पर आधारित अत्यन्त सुदृढ़ है, जिसे भंग कर पाना असंभव है ।

शिक्षा प्रचार, स्वास्थ्य सेवा

संथाल पहाडिग्रां सेवा मंडल के गठन के साथ ही यह स्वाभाविक था कि समाज सेवकों का ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर जाता । इसका कार्य क्षेत्र संथाल परगना व दामिन क्षेत्र चुना गया जहां आदिवासियों की आबादी ९० प्रतिशत से भी अधिक है । संथाल परगना के दुमका, अमड़ापाड़ा, चांदना, पाकुड़, गोड्डा, बोरियों आदि जो गहन आदिवासी क्षेत्र हैं, उन स्थानों में अपने केन्द्रों की स्थापना की । यहां यह कहना आवश्यक है कि संथाल पहाड़िया सेवा मंडल ही एक ऐसी संस्था है जो आज से ५० वर्ष पूर्व से ही संथाल परगना के गहनतम क्षेत्र में है । इसके कई क्षेत्र अभी इतने गहन क्षेत्र में हैं जहां तक पहुंचने की बात नहीं सोची जा सकती । अब जबकि सेवा मंडल का कार्य इस क्षेत्र में सिमट गया है । विदेशी मिशनरियों की प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं ।

अपने प्रथम कार्यक्रम के रूप में सेवा मंडल ने शिक्षा प्रसार और स्वास्थ्य सेवा को ही चुना । गहन आदिवासी क्षेत्र में प्राथमिक शालाएं स्थापित की गई है । सेवा मंडल ने बहुत से विद्यालय स्वयं अपने प्रयास एवं जन सहयोग से प्रारम्भ किये । स्वतन्त्रता संग्राम के समय इन विद्यालयों में अनेक को अंग्रेज शासकों ने ध्वस्त कर दिया था । देश के आजाद होने के बाद राष्ट्रीय सरकार ने संथाल परगना में शिक्षा प्रसार का काम इस संस्था को सौंपा । संस्था ने अपना काम इस क्षेत्र में अत्यन्त दक्षता के साथ सम्पन्न किया । आजादी के तुरन्त बाद गांधी जी की प्रेरणा से प्रातः स्मरणीय ठक्कर बापा ने देश में आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा प्रसार के लिए एक आदर्श योजना को ठक्कर शिक्षा योजना के नाम से स्वीकृति दी तथा इसके संचालन की जिम्मेदारी संथाल पहाड़िया सेवा मंडल को दी ।

बालवाड़ी कार्यक्रम

मंडल ने इस योजना के अन्तर्गत संथाल परगना में ६० से अधिक प्राथमिक विद्यालय, तीन उच्च विद्यालय, चार माध्यमिक विद्यालय तथा आठ छात्रावासों की स्थापना की और १९६० के आसपास सभी प्राथमिक विद्यालयों को उनके भवनों के साथ ही सरकार को सौंप दिया । यहां यह बताना आवश्यक है कि मंडल का कोई भी विद्यालय आज के सरकारी स्कूलों

के सामने पेड़ के नीचे अथवा किसी के बरामदे पर नहीं चलते थे। सभी विद्यालयों के अपने अपने मकान एवं जमीने थी, जो गांव वालों के द्वारा दिये गये थे। सरकार के आधीन चले जाने के बाद इन विद्यालयों के अधिकांश भवन ध्वस्त हो गये।

ठक्कर बापा कहा करते थे कि गैर सरकारी संस्थायों को सरकार के काम के लिए मार्ग प्रशस्त ही नहीं बल्कि मार्गदर्शन भी करना आवश्यक होता है। मंडल ने शिक्षा के क्षेत्र में संथाल परगना में यही किया है। सरकार की प्रेरणा का स्रोत जनता एवं जनता द्वारा संगठित इस प्रकार की गैर सरकारी संस्थाएं ही होनी चाहिए। जिस दिन सरकार इस सिद्धान्त से विचलित होगी उसी दिन वह नौकरशाही के चंगुल में फंस जायेगी। मंडल के सभी विद्यालय अपने क्षेत्र में विशिष्टता लिये हुये थे। एक विद्यालय में तो प्रतिवर्ष शत प्रतिशत छात्र माध्यमिक परीक्षा में प्रथम श्रेणी में सफलता प्राप्त करते थे। सभी विद्यालयों में अधिक से अधिक जन सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की जाती थी। वृक्षारोपण, ग्राम सफाई, नशाबन्दी प्रचार आदि इन विद्यालयों के कार्यक्रम के अंग थे।

मंडल ने प्राथमिक विद्यालयों को अपनी इच्छा से सरकार को सौपा था लेकिन मध्य एवं उच्च विद्यालयों को अपने नियन्त्रण में रखना चाहा था। इसमें से चार मध्य विद्यालय तो अभी भी मंडल के नियन्त्रण में हैं, लेकिन उच्च विद्यालयों को सरकार ने एक तरह से जबर्दस्ती मंडल से छीन लिया है।

सरकारी नियंत्रण के बाद

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि सरकार के नियन्त्रण में जाने के बाद इनकी स्थिति दयनीय हो गयी है। छात्र संख्या विशेषकर आदिवासियों की छात्र संख्यामें तो ह्रास हुआ ही है पढ़ाई और भी दयनीय स्थिति तक पहुंच गयी है। वे विद्यालय मंडल के संदेशों को जन समाज में पहुंचाने के माध्यम थे, अब वे केवल सरकारी स्कूल बन कर रह गये हैं। भूतपूर्व मंत्री और शिक्षा मंत्री के आदेश के बाबजूद ये विद्यालय मंडल के नियन्त्रण में नहीं आ सके।

मंडल ने मुंगेर जिला के निवासियों के आग्रह पर मुंगेर में भी एक आदिवासी योजना का संचालन कुछ दिनों तक किया था। फिर इसके बाद इस योजना को सरकार को सौंप दिया गया। यहां भी ४० प्राथमिक विद्यालय, एक मध्य विद्यालय तथा एक उद्योग विद्यालय का संचालन किया जाता रहा है।

सम्प्रति, मंडल की शिक्षा योजना के अन्तर्गत ४ मध्य विद्यालय एवं ४ छात्रावासों का संचालन किया जा रहा है, इससे ६१५ छात्र एवं ७५ छात्राएं लाभान्वित हो रहे हैं।

प्राथमिक विद्यालयों को सरकार को सौपने के बाद मंडल ने शिक्षा के एक नये क्षेत्र में प्रवेश किया और वह है पूर्व प्राथमिक शिक्षा अथवा विद्यालय पूर्व शिक्षा। मंडल आदिवासी, हरिजन तथा पिछड़े वर्गों के बच्चों के बीच में संथाल परगना प्रमंडल

के विभिन्न क्षेत्रों में २७ बालबाड़ी एवं शिशुपालन केन्द्र का संचालन कर रहा है। इससे छह वर्ष से कम उम्र के १,५०० बच्चे लाभान्वित हो रहे हैं। यह ध्यान देने लायक बात है कि इन केन्द्रों में जो बच्चे आते हैं वे अत्यन्त ही गरीब परिवार के होते हैं उनके माता पिता दिन भर जंगलों पहाड़ों एवं खेतों में परिश्रम करते हैं, अपने बच्चों की ओर ध्यान देने के लिये उनके पास समय नहीं होता है। वे बच्चों को यूं ही भटकने के लिये अथवा घर पर छोटे बच्चों की देखरेख के लिए तथा कुछ बच्चों को जानवरों के चराने के लिए छोड़ देते हैं। ऐसे बच्चे जब सीधे साधारण विद्यालयों में प्रवेश करते हैं तो वे मानसिक रूप से सामान्य शिक्षा ग्रहण करने की स्थिति में नहीं रहते। इसके साथ ही उन्हें भाषा की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि प्राथमिक स्तर पर मातृ भाषा में शिक्षा देने की सरकारी नीति के बावजूद इन्हें हिन्दी पढ़नी पड़ती है। फलतः उनके लिए विद्यालय शिक्षा पूरी करना संभव नहीं हो पाता। सेवा मंडल बालवाडी शिक्षा के माध्यम से इस समस्या का सामना करने का प्रयास किया गया है। यह प्रसन्नता की बात है कि मंडल के सुजानी क्षेत्र में यह प्रयास सफल साबित हुआ है तथा विद्यालय ड्राप आउट्स की संख्या गत एक वर्ष में शून्य तक पहुंच गयी है। इस क्षेत्र में विद्यालय जाने लायक तथा बालवाड़ी जाने लायक कोई भी बच्चे विद्यालय अथवा बालवाड़ी से बाहर नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्र के बच्चों में कुपोषण एक भयानक बीमारी है। मंडल ने इसे अपने कार्यक्षेत्र से दूर करने में बहुत हद तक सफलता प्राप्त की है।

संथाल परगना में संथाल पहाड़िया सेवा मंडल ने शिक्षा के क्षेत्र में सरकार का मार्गदर्शन किया है। इसके विद्यालयों और छात्रावासों से निकले छात्र छात्रायें आज समाज के विभिन्न सम्मानित पदों पर प्रतिष्ठित हें इनमें राजनीति, समाज सेवा और विभिन्न सरकारी पद सम्मिलित हैं। इनके छात्र-छात्रायें विधानसभा और विधान परिषद के सम्मानित पदों पर तो रहते ही आये हैं तथा मंत्री एवं अन्य उच्च पदों को भी सुशोभित कर चुके हैं।

व्यवसायिक शिक्षा

यह सामान्य धारणा है कि सामान्य शिक्षा के साथ व्यावसायिक शिक्षा का मेल नहीं है और इस देश में बुनियादी शिक्षा के असफल होने का सबसे महत्वपूर्ण कारण यही रहा है। लेकिन मंडल ने अपने विकलांग पुनर्वास केन्द्र में सामान्य एवं व्यावसायिक शिक्षा का एक सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। इसके कुल १०४ लड़के, लड़कियों में से ७८ लड़के लड़कियां केन्द्र में विभिन्न व्यावसायिक प्रशिक्षण ग्रहण करते हैं जिनमें सिलाई, बुनाई, घड़ी एवं साईकिल मरम्मत का प्रशिक्षण मुख्य है। सामान्य विद्यालयीय शिक्षा ग्रहण करने के साथ साथ ये अपने अपने व्यावसायिक प्रशिक्षण वर्ग में भी नियमित प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, फिर भी ये अपने अपने वर्ग में कमजोर नहीं हैं इनमें से कई लड़के लडकियों ने अपने अपने वर्ग में प्रथम एवं द्वितीय स्थान प्राप्त किया है। इनमें से एक छात्र श्री बोनेश्वर हेम्ब्रम ने गत वर्ष की वार्षिक माध्यमिक परीक्षा प्रथम श्रेणी से पास की और अब वह देवधर महाविद्यालय का प्रथम वर्ष का छात्र है।

संथाल पहाड़िया सेवा मंडल ने आदिवासियों में सामान्य शिक्षा के प्रसारण के साथ साथ संथाली भाषा साहित्य तथा संस्कृति के विकास के लिए भी सराहनीय कार्य किया है। संथाली भाषा के लिए देवनागिरी लिपि के प्रयोग को प्रचलित करने में संस्था ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मंडल ने प्रथम वर्ग से विश्वविद्यालय के स्तर तक की २५ पुस्तकें सामान्य संथाली भाषा भाषी पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय रही हैं। आर्थिक संकट तथा कागज एवं छपाई का खर्च अधिक बढ़ जाने की वजह से मंडल का काम अब धीमा पड़ गया है। संथाली भाषा साहित्य के प्रचार प्रसार तथा इसे लोकप्रिय बनाने के लिए इस प्रकार के प्रयास की अत्यन्त आवश्यकता है।

देश का आदिवासी समाज आज एक संक्रमण काल से गुजर रहा है। शिक्षा के प्रचार के साथ आदिवासी समाज में जागृति की लहर पैदा हो गई है। आदिवासी समाज आज राष्ट्रीय मुख्य धारा के अन्तर्गत अपनी पहचान बनाना चाहता है लेकिन मुख्य प्रश्न है आदिवासी भावनाओं को समझने का। सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं में आदिवासी नवजवान अपनी भावनाओं एवं क्षमताओं के अनुरूप कार्य करने में सफल हो सकें, इसके लिये उन्हें अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने की आवश्यकता है। इससे इनमें कुण्ठा एवं असंतोष नहीं पैदा होगा जो इन दिनों सामूहिक उपद्रवों के रूप में प्रायः प्रकट हुआ करता है।

अतः सबसे बड़ी आवश्यकता है वर्तमान स्थिति में आदिवासियों की भावनाओं को समझने की। शिक्षा प्रसार जैसे विषयों में स्वैच्छिक संगठनों को अधिक अवसर तथा प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। इसके लिए सरकारी संरक्षण तथा पोषण आवश्यक है।

डर्मिटोग्लिफ़िक्स में छापों की विधि तथा उनका विश्लेषण

सैयद कामिल हुसेन

यह अध्ययन विभिन्न populations में विविधिताओं से सम्बन्धित अध्ययनों अर्थात the study of population variations में एक महत्वपूर्ण प्रकार के variation से सम्बन्धित है। यह अध्ययन क्षेत्र हमें विभिन्न जन समूहों के तुलनात्मक अध्ययनों के लिए कुछ सार्थक एवं महत्वपूर्ण लक्षण प्रदान करता है। Dermatoglyphics शब्द की व्युत्पत्ति darma अर्थात त्वचा (skin) तथा glyphics अर्थात रेखाये एवं रेखाओं के प्रतिरूप जो कि हथेलियों एवं तलवों में पायी जाती हैं से होती है अत: Dermatoglyphics शब्द का तात्पर्य ऐसे अध्ययनों से होता है जिनमें मानव शरीर के हथेलियों एवं तलवों के skin में रेखांकनों के विभिन्न प्रतिरूपों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के दो प्रमुख प्रभाग माने जा सकते हैं :

1. Palmer Dermatoglyphics अर्थात हथेली से सम्बन्धित अध्ययन
2. Planter Dermatoglyphics :– अर्थात पैर के तलवों से सम्बन्धित अध्ययन

इन दोनों प्रभागों में भी हाथ की उँगलियों के शिरों पर पाये जाने वाले रेखांकन प्रतिरूपों को हथेली पर पाये जाने वाले प्रतिरूपों से अलग करते हैं। इसी प्रकार से पैरों के तलवों के रेखांकनों के अध्ययन में भी पैर की उगलियों toes के प्रतिरूपों का अध्ययन तथा तलवों पर प्राप्त रेखाँकन प्रतिरूपों के अध्ययन एक दूसरे से अलग प्रभागों में सम्मिलित किये जाते है। अत: Dermatoglyphics की परिभाषा हम कुछ इस प्रकार से कर सकते हैं कि यह एक ऐसा विज्ञान है जो कि हथेलियों, पैर के तलवों, हाथ की उँगलियों तथा पैर की उंगलियों की सरफ़ेस पर प्राप्त विभिन्न प्रकार के रेखांकन प्रतिरूपों का अध्ययन करता है।

यह Ridges अथवा वक्र रेखाए इन क्षेत्रों की भीतरी सरफेस पर ऊपरी skin पर तरह तरह के प्रतिरूप (petterns) निर्मित करती है। गर्भकाल में भ्रूण की प्रारम्भिक अवस्था में ही इन प्रतिरूपों का निर्माण होने लगता है और गर्भ के छठे माह तक यह प्रतिरूप पूर्ण हो जाते हैं। Cummins ने सन् 1920 में यह धारणा व्यक्त की कि इन प्रतिरूपों का निर्माण गर्भकाल में भ्रूण पर पड़ने वाले दबाव तथा तनाव के परिणामस्वरूप होता है। वास्तव में

सैयद कामिल हुसेन, शोध छात्र, मानवशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय; प्रयोगशाला व्यवस्थापक मानवशास्त्र विभाग, शिया डिग्री कालेज, लखनऊ।

Cummins ने ही सर्वप्रथम 1920 में इन प्रतिरूपों की ओर ध्यान आर्कषित करते हुए Dermatoglyphics शब्द का प्रयोग किया । सन् 1969 में Penrose ने इन प्रतिरूपों को भ्रूणीय चर्म अथवा embroyonic epidermis कहा किन्तु सन् 1973 तक यह मान्यता सुनिश्चित हो चुकी थी कि इन प्रतिरूपों का निर्माण एक निश्चित आनुवांशिक नियन्त्रण के अन्तर्गत होता है और इसी मान्यता के साथ-साथ विभिन्न जन समूहों में इन प्रतिरूपों के तुलनात्मक अध्ययनों के आधार पर इनकी आनुवांशिकता से सम्बन्धित जानकारी की दृष्टि से शारीरिक मानव विज्ञान में इन अध्ययनों का विशेष महत्व हो गया ।

ये प्रतिरूप ऐसे प्रतिरूप होते हैं कि एक बार इनसे सम्बन्धित चर्म की सतह जल कर अथवा किसी अन्य प्रभाव से नष्ट हो जाने के उपरान्त जब नई त्वचा की सरफेस बनती है, तो उस पर भी वही प्रतिरूप फिर से अंकित हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की वक्र रेखाओं (ridges) से बने हुए इन प्रतिरूपों की एक विशेषता यह भी है कि दुनिया की इतनी बड़ी जनसंख्या में प्रत्येक व्यक्ति में पाये जाने वाले प्रतिरूप अपने में विशिष्ट होते हैं । अर्थात कोई भी दो व्यक्ति एक ही प्रकार के प्रतिरूप वाले नही होते । इसीलिए किसी भी व्यक्ति की स्थायी रूप से विश्वसनीय पहचान स्थापित करने की दिशा में इन प्रतिरूपों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है । आधुनिक Forensic Science में मानव वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत इन प्रतिरूपों की जानकारी का महत्वपूर्ण प्रयोग किया जाने लगा है । विभिन्न श्रेणी के अपराधियों के एक बार पुलिस की गिरफ्त में आने के बाद उनके इन प्रतिरूपों का संकलन सदैव उनकी स्थायी पहचान का एक माध्यम पुलिस के पास होता है । इस प्रकार से crime detection (अपराध की छानबीन) के क्षेत्र में इस ज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान हुआ है ।

डर्मिटोग्लिफ़िक्स का मानवशास्त्रीय महत्व

यद्यपि मनुष्य की उंगलियों, हथेलियों एवं तलवों के चर्म पर पाये जाने वाले रेखाँकन प्रतिरूपों को सर्वप्रथम व्यक्तिगत पहचान की दृष्टि से ही महत्व दिया गया किन्तु कालांतर में मानवशास्त्र में इनका अध्ययन व्यापक दृष्टिकोण से किया जाने लगा । जैवकीय मानवशास्त्र में वस्तुतः उन सभी शारीरिक विविधताओं (Biological variations) को महत्व प्रदान किया जाता है जो कि विभिन्न जन समूहों, प्रजातियों में पाई जाती हैं तथा मौलिक रूप से आनुवांशिक होती हैं । अंततोगत्वा, इन विविधताओं के अध्ययन, विश्लेषण एवं इनके आनुवांशिक मूलाधारों की विवेचना एवं स्पष्टीकरण मानव उद्विकास के अध्ययन की विभिन्न दिशाओं के रूप में हमारा ज्ञानवर्धन करते हैं । दुनिया के विभिन्न प्रजातीय स्वरूपों का गठन तथा उनमें परस्पर भेदों की स्थापना भी उद्विकास की सतत् प्रक्रिया का ही एक परिणाम रहा है । आनुवाँशिक प्रक्रियाओं के विभिन्न स्वरूपों में से एक, डर्मेटोग्लिफिक्स के अंतर्गत वर्णित एवं विश्लेषित विभिन्नताओं का भी इसी सन्दर्भ में विशेष महत्व है । वृहद् प्रजातीय समूहों में परस्पर भेद स्थापित करने वाले इन असंख्य प्रतिरूपों से मानवशास्त्रियों का परिचय होता है । उनकी इस विशेषता एवं असीमित अभिज्ञता के कुछ अंशों का प्रयोग ही अपराध जगत में अपराधियों की पहचान स्थापित

करने के क्षेत्र में किया जाता है। वास्तव में इन प्रतिरूपों का मानवशास्त्रीय अध्ययन अपने उद्देश्यों में कही अधिक व्यापक है।

अंगुलि छाप एवं प्रतिरूप

अंगुलि छाप लेने की विधियां : अंगुलि छाप लेने की तीन प्रकार की विधियां प्रयोग में लाई जाती हैं–

1. Ink Method, इसमें छापेखाने की स्याही का प्रयोग किया जाता है। इसमें शीशे की समांग प्लेट पर रोलर से printing ink के पेस्ट का भलीभांति लेपन होता है फिर इसी प्लेट पर अंगुलियों के सिरों को दबाकर ड्राइंग शीट पर उनकी छाप ले लेते हैं।

2. दूसरी श्रेणी में सन् 1951 में Walker द्वारा तथा सन् 1957 में फाइवर के द्वारा कुछ विधियों का प्रयोग किया गया जिनमें स्याही का प्रयोग न किये जाने के कारण उन्हें inkless methods कहते हैं। इनमें दो प्रकार की विधियाँ सम्मिलित हैं जिनमें से एक को Transparent Adhesive method कहते हैं? जिसमें एक चिपकने वाले पदार्थ से लिया हुआ पारदर्शी टेप होता है जिसे उंगली के सिरे पर लपेट देने पर उसकी छापों के निशान बन जाते हैं जिन्हें मैग्नीफाइग ग्लास के द्वारा देखा जा सकता है। इसी में एक दूसरी विधि भी है जिसे Photo graphic methods कहते हैं। इस विधि में उगलियों के सिरो के परिवर्धित फोटो ग्राफ ले लिये जाते हैं। एक तीसरे प्रकार की प्रविधियों की श्रेणी हैं जिन्हें Special mathods कहा गया है। इसमें विशेष प्रकार के रसायनों से युक्त एक film का प्रयोग किया जाता है। इन विधियों में एक विधि को Hygro photography method कहा गया है। दूसरे method को Radio dermato graphic method कहा जाता है। इसमें XRays का प्रयोग किया जाता है। तीसरा Automatic pattern recognaization methods होता है। यह Computer प्रणाली पर आधारित विधि है।

साधारणतया प्रयोगशालाओं में ink method का ही प्रयोग सुविधाजनक रूप से किया जाता है। इसमें निम्नलिखित वस्तुओं का प्रयोग होता है :

1. समतल शीशे की अथवा धातु वाली प्लेट।
2. प्लेट पर स्याही को समान रूप से फैलाने के लिए एक रोलर।
3. अपेक्षाकृत मोटे कागज की शीट जिस पर उंगलियों की छापें ली जाती हैं तथा पेस्ट के रूप में ट्यूबों में छापेखाने की काली स्याही।

छाप लेने की विधियां:— इस विधि में शीशे की प्लेट पर एक किनारे की ओर थोड़ा सा ink paste निकाल कर रोलर के द्वारा प्लेट के थोड़े से भाग में स्याही को भली भांति फैला दिया जाता है। फिर दूसरी ओर जिस चिकने कागज की शीट पर हमें उंगलियों की छापें लेनी होती हैं उसमें शीट के दो किनारों पर एक ओर लम्बाई की दिशा में तथा दूसरी ओर चौड़ाई की दिशा में 5–5 खाने बना लिये जाते हैं। प्रत्येक खाने को एक से 5 तक की संख्या में अंकित कर देते हैं। Sheet के एक ओर के खानों में बांये हाथ की उंगलियों की छापें तथा दूसरी ओर के खानों में दाहिने हाथ की अंगुलियों की छापें अंकित की जाती हैं। इन दोनों ही तरफ

से खानों में क्रमशः वायें हाथ और दाहिना हाथ लिख दिया जाता है। छापें लेने के लिए जिस उंगली की छाप लेनी हो उसके सिरे को स्याही युक्त ग्लास की प्लेट पर रख के दूसरे हाथ के अगूंठे से दबा लेते हैं जिससे अंगुली के सम्पूर्ण सिरे में स्याही लग जाय। फिर अगूंठे की दिशा से शुरू करते हुए पहले से पाँचवे खाने तक संख्याओं से अंकित इन खानों में एक ओर दाहिने हाथ की उंगलियों की तथा दूसरी ओर बायें हाथ के उंगलियों की छापें ले ली जाती हैं। कागज पर बनाये गये इन खानों में छापें लेने के लिए स्याही युक्त उंगलियों के शिरों को एक तरफ से रखते हुए तथा दबाव डालते हुए उंगली का दूसरा सिरा रोल कर दिया जाता है।

सावधानी:— (1) छापें लेने से पूर्व यह आवश्यक है कि हाथों को साबुन से धोकर तथा सूखे कपड़े से पोंछकर भली भाँति साफ कर लिया जाये, जिससे उंगलियों के शिरों पर बनी हुई रेखायें स्पष्ट रूप से व्यक्त हो सकें।

2. शीशे की प्लेट पर काली स्याही के लेपन से पूर्व उसे रूई को स्प्रिट में भिगोकर उससे प्लेट को भली भांति साफ कर लिया जाता है। प्लेट के सूख जाने पर उसी के आकार के एक सफेद समतल कागज़ को मेज के एक किनारे पर बिछाकर शीशे की प्लेट को उस पर रख देते हैं।

3. छाप लिये जाने वाले Subject को अपने दाहिनी ओर खड़ा करते हैं।

4. हथेली की छाप लेने के लिए व्यक्ति Subject को हाथ ढीला करने को कहा जाता है। और उससे हाथ को सामान्य रूप से पूरी तरह फैलाने को कहा जाता है। हाथ को स्याही युक्त प्लेट पर ऐसे रखते हैं जिससे हथेली के संपूर्ण क्षेत्र में स्याही लग जाये।

5. ड्राइंगशीट पर हथेली की छाप लेते समय पहले interdigital areas पर दबाव डालते हैं इसके उपरान्त क्रमशः प्रॉक्सिमल साइड, मिडिल हॉलने पर दबाव डालते हैं जिससे छाप में सभी आवश्यक तथ्यों का समावेश हो जाये।

अंगुलि छापों के विभिन्न प्रारूप :— उंगलियों के सिरों पर बहुत सी वक्रीय रेखायें (Ridges) प्रत्येक व्यक्ति की हर उंगली में विभिन्न प्रकार के प्रारूप प्रस्तुत करती हैं। Galton ने इन प्रारूपों को तीन वृहद् श्रेणियों में विभाजित किया जिनकी पहचान कागज के अलग-अलग खानों में ली गई छापों के द्वारा की जा सकती है। इन को स्पष्ट रूप से देखने और इनमें व्यक्त प्रारूपों की पहचान के लिए मैगनीफाइंग ग्लास का प्रयोग करते हैं। galton की तीन श्रेणियों को क्रमशः whorl (चक्र), loop (शंख) तथा arch (चाप) कहा गया है। whorl एक ऐसा प्रारूप होता है जिसमें विभिन्न प्रकार की रिजेज़ किसी एक मध्य बिन्दु के चारों ओर चक्रीय रूप में फैली होती हैं जिन्हें concentric सर्किल कह सकते हैं। इसके मध्य बिन्दु को कोर कहते हैं। किसी भी उंगली की छाप में जितनी भी रिजेज़ छाप में होती हैं, वे सभी महत्वपूर्ण नही मानी जाती। निरीक्षण की दृष्टि से केवल वे ही रिजेज़ महत्वपूर्ण होती हैं जो किसी प्रकार के प्रारूप का निर्माण करती हैं। इसलिए ऐसी रिजेज़ से घिरा हुआ क्षेत्र पैटर्न एरिया कहलाता है।

TYPE OF WHORLS

A

B

C
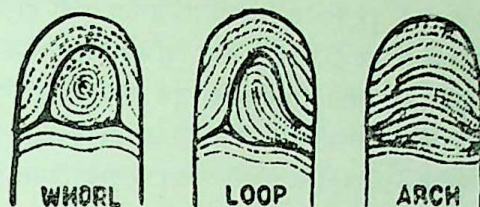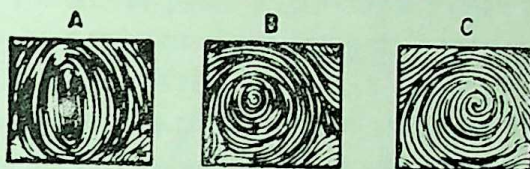
TYPE OF COMPOSITES

LATERAL POCKET

TWIN LOOP

CENTRAL POCKET

TYPE OF LOOPS

RIGHT ULNAR LOOP

RIGHT RADIAL LOOP

TYPE OF ARCHES

SIMPLE ARCH

TENTED ARCH

इसका वह क्षेत्र जो कि उंगली के सिरों की दिशा में होता है उसे distal transverse system कहते है तथा पैटर्न एरिया का वह क्षेत्र जो कि उंगली की लम्बाई की दिशा में होता है उसे proximal transverse styem कहते है। whorl के सेन्टर में जिसके चारों ओर चक्रीय रेखाएं फैली हुई होती हैं उसे core point कहते हैं। जहाँ उंगली की छाप में किन्ही स्थलों

पर तीन विपरीत दिशाओं से आती हुई रिजेज़ मिलती हुई प्रतीत होती हों तो उसे ट्राईरेडियस कहते हैं। किसी ट्राई रेडियस में मीटिंग प्वाइन्ट से तीन विभिन्न दिशाओं की ओर जो रिजेज़ विपरीत दिशाओं में जाती हुई प्रतीत होती हैं उन्हें रेडियन्ट्स कहते हैं। ट्राईरेडियस किन्ही-किन्ही अंगुलि छापों में एक से अधिक संख्या में भी पाये जाते हैं। अंगुलि छाप में रिजेज़ की गणना अथवा ridge count के सन्दर्भ में whorl के समान प्रारूप में ट्राईरेडियस तथा core point दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

LOOP:—Galton के वर्गीकरण में दूसरे प्रकार के प्रतिरूप को loop कहा गया है। संरचना में ये प्रतिरूप whorl की तुलना में अधिक सरल संरचना वाला होता है। loop की संरचना में केवल एक ही ट्राईरेडियस पाया जाता है। इस प्रतिरूप में रिजेज़ एक ही दिशा में वक्रता प्रदर्शित करती है जिस दिशा में ये वक्रता हो उस वक्रता के ऊपरी भाग को लूप का शीर्ष अथवा (head of the loop) कहते हैं। इसके दूसरी ओर का भाग खुला हुआ होता है। यदि यह खुला हुआ भाग कलाई की ulna हड्डी की दिशा में हो तो इस प्रकार के loop को ulnar loop कहा जाता है। यदि इसका खुला हुआ भाग कलाई की रेडियस हड्डी की ओर हो तो इसे radial loop कहा जाता है। चूंकि इस प्रकार के प्रारूप में ridges छाप में एक दिशा की ओर उभरी हुई वक्रताओं के रूप में होती है और उससे विपरीत दिशा में रिज बाहर की ओर फैलती हुई स्थिति में होती हुई अर्थात विपरीत दिशा में बन्द वक्रीय रेखाये नही होती इसलिए देखने में यह प्रतिरूप एक फन्दे के समान प्रतीत होता है। इसलिये Galton ने इस प्रकार के प्रतिरूप को loop कहना उपयुक्त समझा।

ARCH:—ये अंगुलि छापों में सरलतम प्रकार की संरचना होती है। वास्तव में इस प्रकार के प्रतिरूप में रिजेज़ कोई विशेष संरचना बनाती हुई नहीं प्रतीत होती। इसमें रिजेज़ उंगली की एक मार्जिन से दूसरी मार्जिन तक फैली हुई पाई जाती हैं। इसमें कोई ट्राइरेडियस नहीं होता और इस प्रकार के प्रतिरूप में अंगुलि छाप के Pattern Area के तीन विशिष्ट क्षेत्रों अर्थात कोर बिन्दु, डिस्टल ट्राँसवर्स सिस्टम, तथा Proximal Transverse System आदि को एक दूसरे से अलग अंकित नही किया जा सकता है। किन्तु ये रिजें बिलकुल सीधी रेखाओं के रूप में भी नही होती। इनमें सामान्य वक्रता पाई जाती है। इसीलिए Galton ने इन्हें arch शब्द से सम्बोधित किया है।

Galton के arch, loop तथा whorl के वर्गीकरण में किसी भी प्रतिरूप में दो अथवा दो से अधिक triradia होने की स्थिति में उस प्रतिरूप को whorl की श्रेणी में माना जाता है। किसी भी अंगुलि छाप का वह भाग जो कि प्रतिरूप की रेखाओं से घिरा हुआ होता है, उसे हम Pattern Area कहते हैं। इसमें whorl के केस में सम्पूर्ण पैटर्न एरिया बढ़ते हुए चक्रों के रूप में गोलों से घिरा हुआ होता है। जब कि लूप में loop के फन्दे और उसके दोनों सिरों के बीच का क्षेत्र Pattern Area कहलाता है। arch की वक्रीय रेखाओं के प्रसार का क्षेत्र पैटर्न एरिया कहलाता है।

CORE:—कोर बिन्दु किसी भी प्रतिरूप का आन्तरिक क्षेत्र होता है जिसके चारों ओर पैटर्न एरिया का क्षेत्र फैला हुआ होता है। यह एक छोटा से टापू के समान घिरा हुआ क्षेत्र होता है जो कि एक सीधी रिज अथवा Hook के समान रिज अथवा एक बहुत ही छोटे से सर्किल अथवा ellipse की आकृति का हो सकता है। किसी भी प्रतिरूप में इस बिन्दु का निर्धारण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि प्रतिरूप में रिजेज़ की गणना के लिए इसी कोर बिन्दु से शुरुआत की जाती है।

TRIRADIUS :— किसी भी प्रतिरूप में तीन भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर जाती हुई
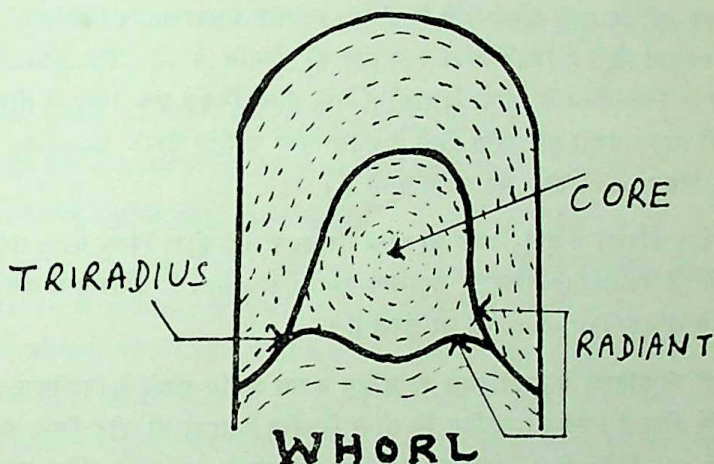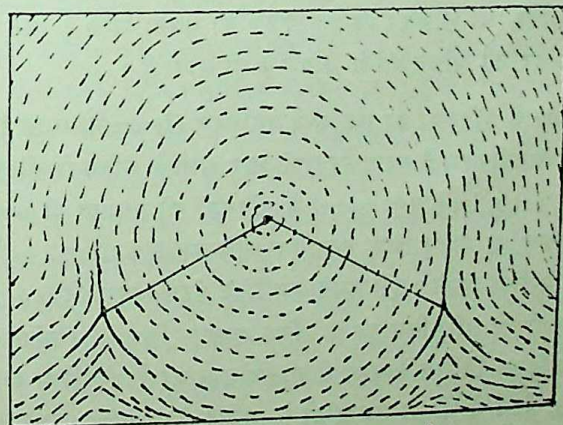
रिज-गणना
(Ridge counting)

रेखाओं के प्रतिच्छेदन बिन्दु में (Meeting Points) को triradius कहते हैं। अक्सर triradius शब्द के लिए delta शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु वास्तव में triradius तथा delta में भेद स्थापित किया जा सकता है। किसी whorl के प्रतिरूप में triradius प्रतिरूप के तीनों क्षेत्रों अर्थात Pattern area, Distal Transverse System तथा Proximal Transverse System के बीच का क्षेत्र होता है जो कि एक त्रिकोणात्मक प्लाट की तरह दिखाई पड़ता है। इसी त्रिकोणात्मक प्लाट के लिए डेल्टा शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु जब यह त्रिकोणात्मक प्लाट अथवा डेल्टा उन रेखाओं से घिरा हुआ होता है जो कि तीन विपरीत दिशाओं में जाती हुई स्थिति में होती है, तो उनके लिए Triradius शब्द का प्रयोग करते है। यह आवश्यक नही कि सभी प्रतिरूपों में त्रिकोणात्मक प्लाट अथवा delta विद्यमान हो। अर्थात ऐसी भी स्थितियाँ होती हैं जिनमें डेल्टा के न होने की स्थिति में भी Triradius होता है। इस स्थिति में Triradius के तीनों दिशाओं में जाने वाली रिजेज़ एक बिन्दु से तीन विपरीत दिशाओं की ओर उभरती हुई प्रतीत होती हैं। इस बिन्दु के लिए डेल्टा शब्द का प्रयोग न करके ट्राईरेडियल point शब्द का प्रयोग करते हैं।

आर्च के प्रतिरूप में ट्राईरेडियस का होना आवश्यक नही होता किन्तु loop तथा whorl के प्रतिरूपों में Triradius का होना आवश्यक होता है। whorl के प्रतिरूप में कम से कम दो अथवा दो से अधिक Triradius देखे जा सकते हैं।

किसी भी प्रतिरूप में ट्राईरेडियस को अंकित करना अंगुलि छापों के विश्लेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। एक तो इसलिए कि तीनों विपरीत दिशाओं की ओर फैलने वाली रिजेज़ Triradius की ही Radiant होती हैं। इसीलिए प्रतिरूप के संरचनात्मक विश्लेषण की दृष्टि से इनकी स्थापना आवश्यक हो जाती है। दूसरे इसलिए कि 'कोर' से Triradial point अथवा डेल्टा तक एक सीधी रेखा खींचकर ही हम रिजेज़ की गणना करते हैं। इस दृष्टि से भी ट्राईरेडियस को पहचान कर उसे अंकित करना आवश्यक हो जाता है।

अंगुलि छाप के प्रतिरूपों का एक अन्य वर्गीकरण Henry ने प्रस्तुत किया जिसमें Galton के तीन प्रतिरूपों के वर्गीकरण के स्थान पर उसने चार श्रेणी के प्रतिरूपों की चर्चा की Galton के समान उसने भी arch, loop तथा whorl के प्रतिरूपों को मान्यता दी। whorl के लिए उसने true whorl शब्द का प्रयोग किया तथा एक चौथे प्रकार के प्रतिरूप को भी उसने अपने वर्गीकरण में सम्मिलित किया। इसे उसने कम्पोजिट पैटर्न नाम दिया। कम्पोजिट पैटर्न में उसने ऐसे प्रतिरूपों को सम्मिलित करना उचित समझा जिसमें उपर्युक्त तीन प्रतिरूपों में से एक से अधिक प्रतिरूप मिश्रित अवस्था में अंगुलि छाप का पैटर्न एरिया बनाते हैं। whorl के समान कम्पोजिट पैटर्न में भी दो अथवा दो से अधिक Triradius पाये जाते हैं। अक्सर प्रतिरूप को देखने पर वृत्तीय चक्रों के समान रिजेज़ के न दिखाई पड़ने की स्थिति में भी दो अथवा दो से अधिक Triradius पाये जाने की स्थिति में उस प्रतिरूप को whorl की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। इसीलिए इस भ्रामक स्थिति के निराकरण के लिए Henry ने अपने

वर्गीकरण में whorl के प्रतिरूप को True-whorl कहा है। इसमें स्पष्ट रूप से एक कोर बिन्दु के चारों ओर परिवर्धित होते हुए वृत्तों के समान संरचना स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। किन्तु ऐसे प्रतिरूपों को जिनमें दो अथवा दो से अधिक Triradius तो पाये जाते हैं किन्तु whorl की परिभाषा के अनुरूप कोर बिन्दु के चारों ओर वृत्तों के चक्र नहीं दिखलाई पड़ते इनके लिये Henry का अनुमान है कि जिन अंगुलि छापों मे इस प्रकार की स्थिति पाई जाती है उन्हें कई प्रतिरूपों का एक मिला जुला अथवा कम्बाइन्ड प्रतिरूप माना जा सकता है। इसी प्रकार के प्रतिरूपों के लिए Henry ने Composit Pattern शब्द का प्रयोग किया। Henry का यह अनुमान है कि कई प्रकार के loops एक ही अंगुलि छाप में मिलकर ऐसी मिश्रित प्रतिरूप अथवा Composit Pattern बनाते हैं। इसीलिए उसने मिश्रित प्रतिरूपों में कई प्रकार की स्थितियों की चर्चा की है—

1. ऐसे प्रतिरूप जिनमें Central Pocket loop पाये जाते हों।
2. ऐसे प्रतिरूप जिनमें Lateral Pocket loop पाये जाते हों।
3. ऐसे प्रतिरूप जिनमें दोनो प्रकार के loop हों।

एक चौथे प्रकार के मिश्रित प्रतिरूप को उसने accidentals शब्द से सम्बोधित किया है। Galton के वर्गीकरण में दो अथवा दो से अधिक Triradius पाये जाने के कारण इन चारों प्रकार के मिश्रित प्रतिरूपों को भी whorl की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता था।

Galton के वर्गीकरण की तुलना में Henry का वर्गीकरण अंगुलि छाप प्रतिरूपों का अधिक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसीलिए वर्तमान में Galton के पूर्व प्रचलित वर्गीकरण के स्थान पर Henry के वर्गीकरण को अधिक मान्यता प्राप्त है।

Henry के वर्गीकरण में जो चौथा वर्ग Composit Pattern अथवा मिश्रित प्रतिरूपों का है उसमें Henry ने जिन उपर्युक्त चार प्रकार की स्थितियों की चर्चा की है उसकी विवेचना आवश्यक है। उदाहरण के लिए प्रथम मिश्रित प्रतिरूप के लिए Henry ने सेन्ट्रल पाकेट लूप शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में कोई ऐसा whorl जो कि आकार में बहुत ही छोटा होने के कारण अंगुलि छाप के भीतरी स्थल के थोड़े से ही क्षेत्र में सीमित रहता है और देखने में एक लूप के समान प्रतीत होता है इसे Henry के अनुसार Central Pocket loop एक वास्तविक whorl (true whorl) तथा विशुद्ध रूप से लूप की संरचना के बीच की मिली जुली स्थिति वाला प्रतिरूप माना जा सकता है। Henry ने Central Pocket loop में दो उपवर्ग माने हैं। एक उपवर्ग को उसने Radial Central Pocket loop कहा है और दूसरे उपवर्ग को Ulnar Central Pocket loop कहा है। इन दो उपवर्गों का निराकरण इन लूपों के खुले हुए सिरों की दिशा के आधार पर किया जाता है अर्थात यदि इन लूपों के खुले हुए सिरों की दिशा कलाई की Ulna हड्डी की ओर हो, और यदि खुले हुए शिरों की दिशा कलाई की रेडियस हड्डी की ओर हो तों इन्हें क्रमश: Ulnar Central Pocket loop तथा Radial Central Pocket loop कहा जाता है।

Lateral Pocket loop :— Lateral Pocket loop दो loops के संयोजन से बने हुये प्रतीत होते हैं जो कि एक दूसरे से क्रास करती हुई स्थिति में होते हैं। इसीलिए उसमें दो कोर बिन्दु निर्धारित किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में जब किसी प्रतिरूप में दो अलग-अलग कोर बिन्दुओं से उभरते हुए लूपों के फन्दे एक दूसरे को काटते हुए प्रतीत हों तो इस प्रकार के प्रतिरूप को Lateral Pocket loop अथवा Twin loop कहा जाता है। सेन्ट्रल पाकेट लूप तथा लेटरल पाकेट लूप में एक विशेष अन्तर यह होता है कि सेन्ट्रल Pocket loop में कम से कम एक सर्किल कोर बिन्दु के चारों ओर पूर्ण होता है। और दूसरा यह कि सेन्ट्रल पाकेट लूप में एक ही कोर बिन्दु निर्धारित किया जा सकता है जब कि लेटरल Pocket loop दो लूपों का मिश्रित प्रतिरूप होने के कारण उसमें दो कोर बिन्दु निर्धारित किये जा सकते हैं।

Twin loop :— Lateral Pocket loop तथा Twin loop बनावट में लगभग एक समान होते हैं क्योंकि दोनों की संरचना दो लूप्स के प्रतिच्छेदन से होती है किन्तु उनमें थोडा अन्तर किया गया है। जैसे जब दो कोर बिन्दुओं से उभरती हुई रेखायें उंगली के एक ही मार्जिन की ओर होती है। अर्थात या तो ulna की तरफ या रेडियस की तरफ हो तब उन्हें lateral Pocket loop कहते हैं। परन्तु जब दोनों कोर बिन्दुओं से उभरने वाली रेखाएँ एक दूसरे से विपरीत मार्जिन की ओर जाती हुई प्रतीत होती हों अर्थात एक कोर बिन्दु से उभरने वाली रेखाएँ रेडियल की ओर दूसरे कोर बिन्दु से उभरने वाली रेखायें ulnar मार्जिन की ओर हो तो इस प्रकार के प्रतिरूप को Twin loop कहा जाता है।

Henry के Composit Pattern में चौथे उपवर्ग को Accidental कहा गया है। यह प्रतिरूप दो अथवा दो से अधिक भिन्न प्रकार के प्रारूपों से मिलकर बनते हैं। उदाहरण के लिए एक whorl तथा एक loop के संयोजित प्रारूप अथवा arch और loop के मिले जुले प्रारूप अथवा दो से अधिक लूप्स के मिले जुले प्रारूप इन सभी प्रकार के प्रतिरूपों को Accidental की श्रेणी में रखा गया है।

Henry ने अपने वर्गीकरण में arches के प्रतिरूप में भी दो प्रकार के arches में भेद स्थापित किया है। एक प्रकार के arch को उसने प्लेन अथवा सिम्पल arch कहा है तथा दूसरे प्रकार के arch को उसने tented नाम दिया है। प्लेन अथवा सिम्पल आर्च में आर्च बनाने वाली रेखायें बहुत ही मामूली तौर पर धनुष के समान वक्रतावाली रेखायें होती हैं। किन्तु tented आर्च में ये वक्रता उंगली की सिरे की ओर कुछ अधिक हो जाती है। प्रत्येक रेखा एक तम्बू की आकृति की बनी प्रतीत होती है, इसीलिए उक्त प्रकार के arch को tented arch कहा गया है। tented arch की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि इसके मध्य रेखा के किसी स्थान पर एक ट्राई रेडियस अवश्य पाया जाता है जबकि प्लेन अथवा सिम्पल arch में कोई ट्राई रेडियस नही पाया जाता।

Henry ने अपने लूप्स के वर्गीकरण में भी उन्हें कई आधारों पर वर्गीकृत किया है। loops का Radial अथवा ulnar loop होना इस तथ्य पर निर्भर करता हैं कि उनका खुले

हुआ भाग ulna की ओर हो अथवा radius की ओर हो। किन्तु एक आधार पर loop का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए Henry ने प्लेन लूप्स तथा transitional loop की चर्चा की है। प्लेन लूप्स की श्रेणी में वे लूप्स आते हैं जो स्पष्ट रूप से तथा रेगुलर रेडियस बने हुए स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। किन्तु transitional loop में वे loop आते हैं जिनमें लूप का प्रारूप तो पहचाना जा सकता है किन्तु इनको बनाने वाली रिजेज़ में व्यवधान प्रतीत होता है। Henry ने आकार के अनुरूप भी loops का वर्गीकरण किया है जिसमें रिजेज़ की संख्या के आधार पर बड़े तथा मध्यम और छोटे loops कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त loops के बन्द भाग की दिशा भी loops के वर्गीकरण का एक आधार बन सकती है। उदाहरण के लिए यदि उनका सिरा उंगली की लम्बाई वाली मिड-एक्सिस की ओर हो तो उन्हें Errect loops कहा जा सकता है। यदि उनका बन्द सिरा दाहिनी अथवा बांई किसी भी ओर तिरछा हो तो उन्हें Oblique loops कहा जा सकता है। किन्तु यदि उनका बन्द सिरा हरजान्टल या क्षितिज दिशा में हो तो उन्हें Transverse loop कहा जा सकता है।

Ridge Count :— अंगुलि छापों में जितने प्रकार के प्रारूप देखने को मिलते हैं उन सभी की रचना जिन रेखाओं से होती है उन्हें Ridges कहते है। प्रत्येक अंगुलि छाप के विश्लेषण में इन रिजेज़ की संख्या की गणना के आधार पर बनाना आवश्यक होता है। क्योंकि किन्ही दो अंगुलि छापों के प्रारूप सामान्य रूप से एक ही प्रकार जैसे whorl अथवा लूप्स के होते हुए भी रिजेज़ की संख्या के आधार पर वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिए प्रत्येक अंगुलि छाप के विश्लेषण में उसके प्रारूप को बनाने वाली रिजेज़ की संख्या व्यक्त करना आवश्यक हो जाता है। रिजों की गणना के लिए हम एक बहुत ही महीन नोकदार गणन सूचिका का प्रयोग करते हैं जो कि किसी प्लास्टिक अथवा किसी लकड़ी के हत्थे में जुड़ी हुई होती हैं।

रिजेज़ गणना के सामान्य नियम :— रिजेज़ की गणना कोर बिन्दु को ट्राईरेडियस बिन्दु से मिलाने वाली रेखा के अनुदिश अथवा arches जिनमें ट्राई रेडियस नहीं पाया जाता उनमें रिजेज़ को लम्बवत काटती हुई रेखा के अनुदिश की जाती है। मैग्नीफ़ाइंग ग्लास से देखते हुए कोर बिन्दु से शुरू करते हुए सुई की नोक कोर बिन्दु एवं ट्राईरेडियस Point को मिलाने वाली रेखा के अनुदिश एक-एक रिज पर निडिल का point रखते हुए रिजेज़ की गणना की जाती है। जितनी रिजेज़ इस रेखा को काटती हुई स्थिति में हों उन्हें गिन लिया जाता है। कहीं कहीं पर इस रेखा को ऐसी भी काटती है जिसके सिरे से दो दिशाओं में दो रेखाएं जाती हुई प्रतीत होती हैं। इस प्रकार की रेखाओं को divergent रेखाएं कहते हैं। ऐसी रेखाओं के लिए हम दो रिजेज़ की गणना कहते हैं। रिजेज़ की गणना कोर तथा ट्राइरेडियल बिन्दु को मिलाने वाली रेखाओं के अनुदिश अथवा अंगुलि के मध्य भाग से गुजरने वाली सीधी रेखा अर्थात मिड एक्सिस के अनुदिश (जब उस प्रतिरूप में कोई ट्राईरेडियस न हो) की जाती है। ट्राईरेडियस बिन्दु और कोर बिन्दु को गणना में सम्मिलित नही करते। वास्तविक चक्र True whorl तथा कम्पोजिट प्रतिरूपों में ट्राईरेडियस की संख्या दो अथवा दो से अधिक होने के कारण कोर

तथा triradial point को मिलाने वाली सभी रेखाओं के अनुदिश रिज काउन्टिग की जाती है ।

देशनायें (Indicies)

किसी जनसमूह के चयनित संवर्ग (Sample) में विभिन्न अंगुलि प्रतिरूपों के वितरण की बारम्बारता के तहत सामान्यता तीन प्रकार के सूचकांकों (देशनाओं) का आकलन किया जाता है जो निम्न प्रकार से होती हैं :

1. फरहाटा सूचकाँक (Furhatas Index) $\frac{\text{व्होरल का प्रतिशत} \times 100}{\text{लूप्स का प्रतिशत}}$

2· डेंकमीजर सूचकांक (Dankmeizer Index) $\frac{\text{आर्च का प्रतिशत} \times 100}{\text{लूप्स का प्रतिशत}}$

3. पैटर्न इंटेन्सिटी सूचकांक ((Pattern Intensity Index) $\frac{2 \times \text{व्होरल} + \text{लूप}}{\text{न}}$

जहाँ 'न' संवर्ग में सम्मिलित कुल व्यक्तियों की संख्या है ।

अनुसूचित जातियों का शैक्षिक सन्दर्भ

जगदीश सिंह राठौर

विषय प्रवेश

देश में स्वतंत्रता के अरुणोदय काल से लेकर आज तक अनुसूचित जातियों के कल्याण, सुरक्षा एवं विकास हेतु शासन द्वारा अनेकानेक नीतियां, योग्यताएं एवं कार्यक्रम कार्यान्वित किए गये हैं। इनमें सभी जातियों एवं वर्गों के लोगों को समता की संवैधानिक व्यवस्था, संसद एवं विधान मण्डलों में उनका अनिवार्य प्रतिनिधित्व, रोजगार के क्षेत्र में आरक्षण की नीति, अस्पृश्यता निरोधक कानून, आर्थिक उन्नति हेतु ऋण, अनुदान एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था, पंच-वर्षीय योजनाओं में हरिजन कल्याण हेतु विशेष प्रावधान आदि के अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र में–शिक्षा संस्थाओं में उनके प्रवेश सम्बन्धी नियमों में शिथिलता, शुल्क मुक्ति की व्यवस्था, छात्रवृत्तियां प्रदान करना, छात्रावासों की व्यवस्था, व्यावसायिक प्रशिक्षण का आयोजन, प्रतियोगी परीक्षाओं हेतु पूर्व परीक्षा प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना आदि प्रयास किए गये हैं। ३८ वर्षों के इस विशाल अंतराल में अनुसूचित जातियों के कल्याण एवं विकास हेतु विभिन्न शैक्षिक एवं अन्य योजनाओं तथा कार्यक्रमों के कार्यान्वियन के बाद भी क्या अनुसूचित जाति के लोगों की शैक्षिक स्थिति में सुधार हुआ है? सम्प्रति समाज में इनकी शैक्षिक स्थिति क्या है? वे शिक्षा के प्रति कितने जागरूक हैं तथा अपनी संतान के शैक्षिक भविष्य के प्रति उनकी क्या प्रत्याशाएं हैं? इसका आनुभाविक ज्ञान प्राप्त करना ही प्रस्तुत अध्ययन का प्रधान उद्देश्य रहा है।

क्षेत्र एवं पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन उत्तर प्रदेश के बिजनौर जनपद के अंतर्गत चान्दपुर नगर से ६ कि० मी० दूर स्थित ग्राम ककराला के हरिजन समुदाय पर आधारित है। इस गांव में अन्य जातियों के साथ साथ १२६ हरिजन परिवार निवास करते हैं। गांव के समस्त हरिजन परिवारों के

डा० जगदीश सिंह राठौर, गुलाब सिंह हिन्दू पी जी कॉलेज, चान्दपुर स्याऊ, बिजनौर

कर्ताओं (मुखिया) से साक्षात्कार अनुसूची की सहायता से दत्त संकलन किया गया। इस प्रकार प्रस्तुत लेख ग्राम ककराला के समस्त १२९ अनुसूचित जातीय परिवारों के अध्ययन पर आधारित है।

उपलब्धियाँ

प्रस्तुत अध्ययन की प्रमुख उपलब्धियां निम्नवत् हैं—

सूचनादाताओं की शैक्षिक स्थिति

अध्ययन से सम्वन्धित गाँव में एक प्राथमिक स्तर का विद्यालय है, गांव से ६ कि० मी० दूरी पर स्थित चान्दपुर नगर में ४ इण्टरमीडिएट तथा १ स्नातकोत्तर स्तर का महाविद्यालय है, शासन द्वारा अनुसूचित जातियों के छात्र-छात्राओं के अध्ययन हेतु अनेकानेक शैक्षिक सुविधाओं की व्यवस्था की गई है, इसके बाद भी संभवतः शिक्षा ग्रहण करने के प्रति जागरूकता के अभाव में तथा निम्न आर्थिक स्थिति के फलस्वरूप, क्योंकि हरिजन एवं निम्न आर्थिक स्थिति वाले परिवारों में बच्चे स्कूल जाने वाली छोटी आयु से ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उत्पादन कार्य में हाथ बंटाने लगते हैं, अधिकांश सूचनादाता (७९.०६ प्रतिशत) अशिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, २०.९३ प्रतिशत शिक्षित सूचनादाताओं में से भी १०.०७ प्रतिशत सूचनादाताओं ने मात्र प्राथमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त की है, ६.२० प्रतिशत ने माध्यमिक स्तर तक तथा मात्र ४.६५ प्रतिशत ने स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर तक शिक्षा ग्रहण की है (सारिणी संख्या १)। ये समस्त तथ्य आज भी अनुसूचित जातियों के सदस्यों की दयनीय शैक्षिक स्थिति का संकेत देते हैं।

सूचनादाताओं के बच्चों द्वारा शिक्षा ग्रहण

सूचनादाताओं के साथ-साथ उनके परिवार के बच्चों की शैक्षिक स्थिति, अर्थात वे अध्ययनरत हैं अथवा नहीं, के सम्बन्ध में जानने पर स्पष्ट हुआ (सारिणी संख्या २) कि मात्र ५८.१३ प्रतिशत सूचनादाताओं के बच्चे अध्ययनरत हैं शेष ४१.८६ प्रतिशत सूचनादाताओं के वे बच्चे, जो स्कूल जाने वाली आयु के अन्तर्गत आते हैं, आज भी शिक्षा ग्रहण नहीं कर रहे हैं। यद्यपि सारिणी संख्या २ के दत्तों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि अधिकांश संख्या उन परिवारों की है जिनके बच्चे स्कूल जा रहे हैं किन्तु वर्तमान संदर्भ में, जहाँ शासन में उनके लिए इतनी शैक्षिक सुविधाओं की व्यवस्था की है, जहाँ आज बच्चों की अनिवार्य शिक्षा पर विचार किया जा रहा है. यह संख्या पर्याप्त एवं संतोषजनक नहीं कहीं जा सकती।

सूचनादाताओं की अपनी संतान के प्रति शैक्षिक प्रत्याशाएं

सूचनादाताओं की शैक्षिक स्थिति के सन्दर्भ में और गहन विचार करने हेतु उनसे यह ज्ञात किया गया कि वे अपनी संतान को किस स्तर की शिक्षा दिलाना पसन्द करेंगे अर्थात

शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी संतान के प्रति उनकी क्या प्रत्याशाएं हैं। इस सम्बन्ध में सारिणी संख्या ३ के दत्तों से यह तथ्य उजागर होता है कि आज भी अनुसूचित आतियों के सदस्यों में शैक्षिक जागरूकता का अभाव है। अध्ययन के अंतर्गत १०.८५ प्रतिशत सूचनादाताओं ने अपने पुत्रों को अशिक्षित रखना ही पसंद किया है तथा ६.३० प्रतिशत ने मात्र प्राथमिक शिक्षा ही दिलाने की इच्छा व्यक्त की है। सर्वाधिक संख्या (५१.६३ प्रतिशत) उन परिवारों की है जो अपने बच्चों को माध्यमिक स्तर तक ही शिक्षा दिलाना पसन्द करते हैं जबकि स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर तक शिक्षा दिलाने को मात्र २७.६ प्रतिशत सूचनादाताओं ने इच्छा प्रकट की है। युवतियों की शिक्षा के प्रति उनकी प्रत्याशाएं और भी अधिक शोचनीय हैं क्योंकि ३६.४३ प्रतिशत सूचनादाता तो युवतियों को शिक्षा दिलाना ही पसन्द नहीं करते, ३१.७८ प्रतिशत मात्र प्राथमिक स्तर तक तथा २१.७० प्रतिशत हाई स्कूल तक शिक्षा दिलाना चाहते हैं। हाई स्कूल से ऊपर शिक्षा दिलाने की इच्छा रखने वाले परिवारों की संख्या मात्र १०.०७ प्रतिशत है। ये तथ्य स्पष्टतः संकेत करते हैं कि स्त्री शिक्षा के प्रति उनमें जागरूकता की बहुत कमी है।

सूचनादाताओं के सहशिक्षा के सम्बन्ध में विचार

सारिणी संख्या ३ में अनुसूचित जाति के लोगों की शिक्षा से सम्बधित प्रत्याशाओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इस सम्बन्ध में उनके विचार अधिक प्रगतिशील नहीं है। इसी संदर्भ में उनसे एक प्रश्न यह भी पूछा गया कि क्या वे युवतियों को सहशिक्षा दिलाना पसन्द करेंगे ? इस सम्बन्ध में सारिणी संख्या ४ के दत्त स्पष्ट करते हैं कि अधिकांश सूचनादाताओं (७८.२६ प्रतिशत) ने सहशिक्षा व्यवस्था से असहमति व्यक्त की है।

अनुसूचित जातियों की शैक्षिक स्थिति से सम्बन्धित उपर्युक्त पूर्ण विवेचन के प्रकाश में यह निष्कर्ष ज्ञापित किया जा सकता है कि अनुसूचित जातियों की शैक्षिक स्थिति आज भी बहुत अधिक दयनीय है—वे स्वयं अधिकांशतः (७६.०६ प्रतिशत) अशिक्षित हैं, उनके परिवारों में अध्ययनरत बच्चों की संख्या (५.१३ प्रतिशत) संतोषजनक नहीं है, अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने के सम्बन्ध में उनकी भावी प्रत्याशाएं भी आशातीत प्रगतिवादी नहीं है तथा सहशिक्षा के सम्बन्ध में अधिकांश सूचनादाताओं (७८.२६ प्रतिशत) ने नकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करके अपने रूढ़िवादी विचारों को अभिव्यक्त किया है। ये समस्त तथ्य हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं कि अनुसूचित जाति के सदस्यों की शैक्षिक स्थिति बहुत निम्न है तथा उनमें शैक्षिक जागरूकता का आशानुकूल एवं सामयिक स्थितियों के अनुसार विकास नहीं हुआ है। इसके लिए संचार माध्यमों को अधिक सक्रिय करके उसके अन्दर शैक्षिक जागरूकता का विकास करने की महती आवश्यकता है।

सारिणी संख्या—१
सूचनादाताओं की शैक्षिक स्थिति

शैक्षिक स्तर	सूचनादाताओं की संख्या	प्रतिशत
अशिक्षित	१०२	७६.०६
प्राथमिक	१३	१०.०७
हाई स्कूल	५	३.८७
इण्टरमीडिएट	३	२.३२
स्नातक	५	३.८७
स्नातकोत्तर	१	०.७७
योग	१२६	६६.६६

सारिणी संख्या—२
सूचनादाताओं के बच्चों द्वारा शिक्षा ग्रहण

बच्चों द्वारा शिक्षा ग्रहण	सूचनादाताओं की संख्या	प्रतिशत
अध्ययनरत हैं	७५	५८.१३
अध्ययनरत नहीं हैं	५४	४१.८६
योग	१२६	६६.६६

सारिणी संख्या—३
सूचनादाताओं की अपनी संतान के प्रति शैक्षिक प्रत्याशाएं

प्रत्याशित शैक्षिक स्तर	युवक	प्रतिशत	युवती	प्रतिशत
बिल्कुल शिक्षा नहीं	१४	१०.८५	४७	३६.४३
प्राथमिक स्तर तक	१२	६.३०	४१	३१.७८
हाई स्कूल	४२	३२.५५	२८	२१.७०
इण्टरमीडिएट	२५	१६.३७	६	४.६५
स्नातक	३३	२५.५८	५	३.८७
स्नातकोत्तर	३	२.३२	२	१.५४
योग	१२६	६६.६७	१२६	६६.६७

सारिणी संख्या—४

सहशिक्षा के सम्बंध में सूचनादाताओं के विचार

सहशिक्षा के प्रति विचार	सूचनादाताओं की संख्या	प्रतिशत
सहमति	२८	२१.७०
असहमति	१०१	७८.२६
योग	१२६	६६.६६

'उत्तरकाशी जनपद की 'जाड़' जाति एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उसका तिब्बत से सम्बन्ध

सोहन लाल भट्ट

उत्तराखण्ड की भूटान्तिक जाति तथा अन्य जातियों के बारे में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परम्परा की जानकारी प्रकाश में आई है।

हिमाच्छादित शिखरों की छाया में उत्तराखण्ड के उत्तरी भू-भाग २९.४९° से ३१.२७° उत्तरी अंक्षाश और ७८.३०° से ८१.३° पूर्वी देशान्तर के मध्य में स्थित लगभग ५००० वर्गमील का क्षेत्र भोटिया लोकसंस्कृति की रंगस्थली है। इस भूभाग में कुमायूँ के जिला पिथौरागढ़ तथा जौहार तथा दारमा परगना, गढ़वाल में चमोली जनपद की तल्ला तथा मल्ला पैनखाण्डा पट्टियाँ तथा उत्तरकाशी जनपद की भटवाड़ी तहसील के अन्तर्गत कुछ क्षेत्र सम्मिलित हैं। उत्तर में हिमालय पर्वत श्रेणियाँ इस क्षेत्र को तिब्बत से पृथक करती है। पूर्व की ओर काली नदी इस भू-भाग और नेपाल के बीच प्राकृतिक सीमारेखा है।

इस अंचल में एक ओर समुद्रतल से ६००० मीटर से अधिक ऊँचाई वाले बर्फ से ढके शिखर और ३००० से ६००० मीटर ऊँचाई के बनस्पति विहीन जनशून्य भाग हैं। दूसरी ओर जाड़ गंगा (जान्हवी), विष्णु गंगा, धौली, गौरी और कुटीयांगती नदियों के ऊपरी भागों में चारागाह (बुग्याल) भी हैं। इन्हीं नदियों की घाटियों में भोटान्तिकों के शीतकालीन प्रवास के गाँव हैं।

सामान्यतया **'भोटिया'** नाम से पुकारी जाने वाली जनजाति के प्रमुख छह वर्ग—**'शौका'**, **'जोहारी'**, **'दारमी'**, **'तोल्छा'**, **'मारछा'** तथा **'जाड़'** हैं। **'जाड़' जाति उत्तरकाशी** (जनपद) की भागीरथी घाटी के जादुंग, 'नेल्ड' तथा **'बगोरी'** ग्रामों में निवास करती है। अब **'हर्सिल'** तथा **'डुण्डा'** भी इस जाति का ग्रीष्मकालीन तथा शीतकालीन आवास स्थल है।

सोहनलाल भट्ट, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उत्तरकाशी

उत्तराखण्ड के भूटान्तिक लोगों की सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिकता के बारे में विभिन्न इतिहासकारों–शोधकर्त्ताओं द्वारा अब तक बहुत कुछ सामग्री प्रकाश में आई है इसके अतिरिक्त इतिहासवेत्ताओं, पुराविदों व शोधकर्त्ताओं ने अधिकांश सामग्री चमोली तथा पिथौरागढ़ के भूटान्तिकों पर ही प्राप्त करने का प्रयास किया है सिर्फ ब्रिटिश इतिहासकार एटकिंसन ने उत्तरकाशी जनपद की 'जाड़' जनजाति के बारे में थोड़ी सामग्री प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। लेकिन वह जानकारी अपूर्ण ही है। अतः इस जनजाति के ऐतिहासिक, आर्थिक (व्यापारिक पृष्ठभूमि) को जानने की आवश्यकता है।

अधिकांश लोग हिमालय की सर्वाधिक प्राचीन जाति 'भोटिया' को ही मानते हैं। लेकिन 'जाड़' जाति भी एक महत्वपूर्ण जनजाति है। इस जाति का मूल रूप से सम्बन्ध 'तिब्बत' से माना जाता है। हिमालय क्षेत्र में पाई जाने वाली जातियों के सम्बन्ध में पुराणों तक महा-भारत में भी वर्णन आया है। महाभारत में पाई जाने वाली इस जाति को 'किराती' कहा गया है। इस किराती जाति की प्रमुख विशेषता चपटी मुखाकृति, छोटी और चपटी नाक, छोटा कद तथा रंग गेहुंआ है।

लघु हिमालय के पठारों पर भिल्ल, किरातों के प्रसार के कई शताब्दियों के पश्चात, किन्तु भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व, पश्चिम के ईरान, अफगानिस्तान से 'दरद-खश' नामक पशुचारक जाति की टोलियों ने 'दरदिस्तान काश्मीर से होकर 'लघु हिमालय' के पठारों पर पूर्व की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। 'खश' जाति पशुचारक जाति थी। इस जाति के लोगों को अपने अस्तित्व के लिए पड़ोसी प्रतिद्वन्द्वी जाति के साथ संघर्ष करना पड़ा था। खशो की प्रतिद्वन्द्विता में भिल्ल 'किरात' यहाँ पर टिक न सके।

आज चम्बा/हिमाचल प्रदेश के लाहौल-स्फीति के किन्नौर जिले के किन्नर, जाड़ नीतिमाणा घाटियों के 'मार्छा' 'तोल्छा' इसी किराती जाति के वंशज हैं। लघु हिमालय के ऊँचे बीहड़ों व पठारों पर इसी किरात जाति ने अपना निवास स्थान बनाया। वेद, रामायण, महाभारत, कालिदास, बराहमिहिर तथा बाण-बाल्मीकि ने 'किरातों' का उल्लेख किया है। रामायण में समुद्री किरातों (हिन्द चीनी) का वर्णन आता है। इससे किरात जाति का ३००० वर्षों से हिमालय क्षेत्र में रहने की पुष्टि समक्ष आती है। उत्तरकाशी जनपद की जाड़ जाति का उद्‌गम भी बहुत कुछ हिमाचल-प्रदेश के 'बुशहर' जिले से होना माना जाता है। इस सम्बन्ध में ई०टी० एटकिन्सन ने 'जाड़ जाति' के 'मूल आगमन' की ऐतिहासिक पुष्टि की है।

लेकिन सभी ऐतिहासिक तथ्यों तथा साक्ष्यों को आधार मान कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वास्तव में 'जाड़' जाति तिब्बत की 'हुणियां' जाति से सम्बन्धित है। हूण प्रदेश में रहने के कारण यह जाति हुणियां कहलाई व्यापार-प्रधान होने के कारण यह जाति हिमाचल प्रदेश के किनारे-किनारे बुशहर जिले से उत्तरकाशी जनपद की सीमान्त जनजाति बन गई तथा इनका समीपवर्ती गांव तथा स्थानों पर बसने के कारण इस जनपद की जातियों

से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो गये तथा यह जनजाति 'जाड़' जाति के रूप में मानी जाने लगी।

वर्तमान में 'जाड़' जाति का मुख्य निवास 'बगोरी' है। उत्तरकाशी मुख्यालय से ७७ कि०मी० की दूरी पर यह गांव स्थित है। समुद्रतल से इसकी ऊँचाई ८४०० मीटर है। हर्सिल से बगोरी जाने के लिए दो सहायक नदियों से गुजरना पड़ता है।

१९६२ से पूर्व 'जाड़' जाति का व्यापार तिब्वत से होता था। तिब्बत के निवासियों व 'जाड़' जाति का व्यापारिक सम्बन्ध था, किन्तु इसके पश्चात व्यापार पर तिब्रत से प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। 'जाड़' जाति के बारे में निःसन्देह यह राय व्यक्त की जा सकती है कि इनका मूल स्थान तिब्बत है।

जाड़ जाति का उद्गम तिब्बत है। नीलंग ग्राम तिब्बत के समीप तत्कालीन टिहरी रियासत में टकनौर परगनें में जादु गंगा के किनारे ११३१० फीट की ऊँचाई पर स्थित है। नीलंग से १५ किलोमीटर आगे जादुंग गाँव है। नीलंग से तिब्बत को मार्ग जाता है। तिब्बत में शपरंग, थोलिगंमठ, गठतोग आदि मण्डियों में जाड़ जाति के लोग व्यापार करने जाते थे। इसलिए नीलंग घाटी में रहने वाले 'जाड़' कहलाये।

वर्तमान में 'जाड़' जाति का निवास उत्तरकाशी मुख्यालय से मात्र १६ कि०मी० की दूरी पर डुण्डा नामक स्थान पर है मूल रूप से 'बगोरी' के अतिरिक्त 'डुण्डा' में इस जाति का मुख्य निवासी रहता है। ऊन का धन्धा, भेड़पालन, ऊनी कपड़ों का निर्माण इनकी अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है शीत प्रधान देश होने के कारण 'जाड़' जनजाति की सम्पूर्ण 'अर्थ-व्यवस्था' का आधार भेड़पालन तथा ऊन का व्यवसाय है। ऊनी वस्त्रों के अतिरिक्त जंगली जानवरों का शिकार, टोकरियां, चटाईयाँ तथा कस्तूरी मृग का शिकार करने से भी आय प्राप्त होती है।

'जाड़' जाति के नामकरण का ऐतिहासिक आधार यह भी है कि जाड़ जाति के लोग भारत तिब्बत सीमा के समीपवर्ती गाँव 'जाडंग' के स्थायी निवासी थे, जाडंग गांव के पास ही 'जाड़' गंगा है, जिसे आज 'जान्हवी' भी कहा जाता है, के निवासी होने के कारण 'जाड़' कहलाये।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. डबराल, शिवप्रसाद — 'उत्तराखण्ड के भूटान्तिक' (उपत्यका) पृष्ठ, ५७, ८०, १४०

२. रतूड़ी, पं० हरिकृष्ण — 'गढ़वाल का इतिहास' पृष्ठ, ६६

३. एटकिन्सन, ई० टी० — 'हिमालयन गजेटियर' भाग २ एवं ३ पृ० ११५, ५१२

४. शर्मा, एम०एम० 'थ्रू दि वैली ऑफ गॉड' पृष्ठ 127.

५. हेर्र-हेनरिक 'सेविन इयर्स इन टिवेट' 44, 79

६. सांख्यिकी पत्रिका जनपद उत्तरकाशी १६८० पृष्ठ ७

७. सांकृत्यायन, राहुल 'हरिद्वार से नीलंग यात्रा'

८. कालेलकर, काका साहब 'हिमालय यात्रा'

९. शेरिंग 'वेस्टर्न टिबेट दि ब्रिटिश बार्डरलैंड' 63

१०. बनर्जी, एम० 'प्रिमिटिव मैन इन इण्डिया' (१९६४) पृ० ६७

११. विलियम, बी०ए० 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज एण्ड अवध', खण्ड-४ ।

एक राजनैतिक समाजशास्त्रीय विश्लेषण—लोकतांत्रीकरण के परिवेश में प्रमुख भारतीय सामाजिक संस्थाओं के बदलते प्रतिमान

कृष्ण मुरारी रस्तोगी

आधुनिक युग लोकतंत्र का युग है और विश्व के अनेक देशों में इनकी जड़ें इतनी गहरी हो गयी हैं कि यह अब न केवल एक शासन पद्धति तक सीमित है बल्कि इसने हमारे सामाजिक जीवन को भी आप्लावित कर लिया है। आज लोकतन्त्र का अर्थ इतना व्यापक होता जा रहा है कि यह हमारे जीवन मूल्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर एक नई संस्कृति को जन्म दे रहा है। इस अर्थ में लोकतन्त्र हमारे जीवन की एक पद्धति के रूप में विकसित हो चुका। अब इसका अध्ययन राजनीतिशास्त्रियों तक सीमित नहीं रह गया है वल्कि समाजशास्त्री भी इसके प्रभावों का गहन अध्ययन कर रहे हैं। कालमैन्हीन जैसे समाजशास्त्री ने इसे सामाजिक पुर्ननिर्माण के यन्त्र के रूप में विवेचन करते हुए एक मानवतावादी समाज की स्थापना में इसे उपयोगी वताया है। भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे नेताओं ने इसे संवैधानिक आधार प्रदान कर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के परम्परावादी मूल्यों के सामने चुनौती पैदा कर दी। आज हमारी सामाजिक संरचना का वर्तमान स्वरूप इसी के आधार पर विकसित हो रहा है।

लोकतन्त्र की अवधारणा का विकास निरंकुशवादी व अराजकता पर आधारित शासन व्यवस्थाओं में प्रचलित शोषण के विरुद्ध हुआ। यह राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था है, जो मनुष्य को उसकी इच्छाओं के अनुरूप विकास करने की स्वतंत्रता प्रदान करती है। इसके साथ ही इस प्रकार की राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान करती है, चाहे वह आर्थिक हो या राजनैतिक, सामाजिक हो या धार्मिक। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के आधार पर व्यवसाय चुनने, बोलने या किसी प्रकार की भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र है। लेकिन जनतंत्र के सामाजिक व राजनैतिक सभी विचारकों का मत है कि

डा० कृष्ण मुरारी रस्तोगी, वरिष्ठ प्रवक्ता, स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग, फिरोजगांधी कालेज, रायवरेली

व्यक्ति को असीमित स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, इसकी कुछ तो सीमा होनी ही चाहिए। अत: वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के असीमित अर्थ को सीमित करते हुए कहते हैं कि जनतंत्र में मनुष्य को केवल उसी सीमा तक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए जहाँ तक वह दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न करे।

इस प्रकार जनतंत्र उस अभिजात्य वर्ग का विरोध करता है जिसने मानव आत्माओं की आवाज को दबाकर निर्बल जनता पर अनेकों अत्याचार किये हैं। एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री कार्लमैन्हीम ने अपनी पुस्तक 'मैन एण्ड सोसाइटी इन एन ऐज आफ रिकान्सट्रक्शन' में लोक-तांत्रीकरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है कि अनेक प्राचीन शासन व्यवस्थाओं में उस अभिजात वर्ग का शासन था जिसने अपना प्रभुत्व व सत्ता बनाये रखने के लिए गरीव, निरीह व निर्बल जनता को अशिक्षा द्वारा राजनैतिक चेतना से अलग कर दिया और उस पर अनेक अत्याचार किये। इंग्लैण्ड व भारत के पब्लिक स्कूल केवल उन्हीं बच्चों को शिक्षा देते थे जो पूंजीपति, धनी व प्रशासक वर्ग के होते थे। इसका प्रमुख कारण है कि इन स्कूलों की स्थापना उसी वर्ग के द्वारा की गयी थी। इस शिक्षा पर व्यय इतना अधिक था कि स्वाभाविक रूप से गरीब जनता अपने बालकों को इन शिक्षालयों में भेजने की स्थिति में नहीं थी। केवल इनका नाम मात्र ही पब्लिक स्कूल है, जो सरासर अन्याय व निरीह, अवोध जनता के साथ धोखा है। इस वर्ग के बच्चों को शिक्षा से वंचित रखने का उद्देश्य यह था कि यदि निम्न वर्ग के बच्चे पढ़-लिख जायेंगे तो चेतनायुक्त होकर राजनीति व उनकी सत्ता पर हस्तक्षेप करेंगे। अतएव उन्हें सदा ही अशिक्षित व गरीब रखा जाये जिससे वे सिर न उठा सकें। इस प्रकार शोषण न केवल आर्थिक व राजनैतिक स्तर तक सीमित रह गया बल्कि शिक्षा व धार्मिक क्षेत्रों में भी आरम्भ हुआ। शोषण की इस प्रक्रिया में निम्न वर्ग चेतना शून्य सा हो गया। लेकिन गरीब, निरीह जनता की आवाज अधिक दिनों तक दबी न रह सकी और एक समय ऐसा आया जब इस अभिजात्य वर्ग के लोगों के सामने चुनौती उत्पन्न हो गयी, परिणामस्वरूप औद्योगिक पूंजीवाद में अन्तर्निहित शोषण के विरुद्ध आंदोलन तीव्र होता गया जिसका परिणाम यह हुआ कि कुलीनतंत्र व अराजकतावाद पर आधारित सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थायें शिथिल पड़ने लगीं और लोकतंत्र के अभ्युदय के लक्षण स्पष्ट होने लगे। उधर फ्रांसीसी व यूनानी विचारकों ने भी शोषण पर आधारित व्यवस्थाओं के विरुद्ध चेतना उत्पन्न की जिनमें बैन्थम जैसे उप-योगितावादी विचारक प्रमुख हैं जिसने अधिक लोगों की खुशियों की कामना की। उसकी वैचारिकी का आधार सामाजिक न्याय, जन कल्याण, समानता एवं भ्रातृत्व पर आधारित मूल्य थे।

आज विचारकों का कहना है कि राज्य व शासन में लोकतंत्र तब तक सफल नहीं होगा जब तक कि यह सामाजिक जीवन के हर पहलू में विकसित न हो जाये अर्थात् आर्थिक क्षेत्र में यह उद्योगों का लोकतांत्रीकरण करे, सामाजिक क्षेत्र में व्यक्तियों को शिक्षित कर उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करे और अभावग्रस्त स्थितियों से मुक्ति प्रदान करे, और अत्याचार के

विरुद्ध न्याय प्रदान करे। अतः लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया तब तक पूर्ण नहीं कही जायेगी जब तक वह वास्तव में सभी क्षेत्रों में विकसित नहीं हो जाती अर्थात् सामाजिक गतिशीलता के रूढ़िवादी प्रतिमान को परिवर्तित कर नवीन युग के अनुरूप नहीं बनाती। विचारकों का मत इसके विस्तृत पहलू पर यह है कि लोकतंत्र 'एक राजनैतिक व्यवस्था', 'एक नैतिक धारणा' एवं 'एक सामाजिक परिस्थिति' है।

इस दृष्टि से देखने पर लोकतंत्र एक धार्मिक सिद्धान्त है और लोकतंत्रीय जीवन ही सच्चा जीवन है। भारत में स्वतंत्रता के बाद जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था का विकास हुआ उसका प्रभाव न केवल राजनैतिक या आर्थिक क्षेत्र तक सीमित रहा बल्कि परिवार, विवाह व सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओं पर भी पड़ा। लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास को एक सीमा तक कुछ निहित स्वार्थों ने अवरुद्ध कर दिया। यही कारण है कि आज सामाजिक जीवन के अनेक स्तरों पर भ्रष्टाचार दिखायी देता है और बहुत बार अभाव व मँहगाई की स्थिति ने जनता को कठिनाई में डाल दिया है। लोकतंत्र उत्पादन की व्यवस्था के रूप में समान वितरण व उपभोग पर बल देता है, तथा इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा किया जाय जिससे व्यक्ति लोकतंत्र के अर्थ का वास्तविक अनुभव कर सके। बिना मूल आवश्यकताओं की पूर्ति किये लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं की जा सकती है। अतः सामाजिक उत्पादन में सभी व्यक्तियों को बराबर के अवसर प्रदान किये जायें जिससे व्यक्ति एक सामाजिक इकाई के रूप में अपने उत्तरदायित्व को समझ सके।

लोकतांत्रिक मूल्यों का सम्बन्ध न केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित रह गया है बल्कि यह आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक व सांस्कृतिक विकास को भी प्रेरित करता है। यही कारण है कि हमारे भारतवर्ष में सैद्धान्तिक रूप से लोकतंत्र की भावना सभी उपर्युक्त क्षेत्रों में दिखायी देती है, फलस्वरूप इस लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया ने अनेक सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त सामाजिक उन्नयन की दिशा को परिवर्तित कर इसे ऊर्ध्व गतिशीलता प्रदान की है जिसके परिणामस्वरूप क्षैतिज गतिशीलता शिथिल हुयी है। यहां यह उल्लेखनीय है कि जहाँ पहले समाज में 'जाति' व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को निर्धारित कर उसकी योग्यता व कार्य क्षमता की उपेक्षा करती थी वहीं लोकतांत्रिक परिवेश में अब जन्मगत कारक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को पूर्णतया निर्धारित नहीं करता बल्कि उसकी 'उपलब्धियां व योग्यता' उसे समाज में उच्च व निम्न स्थान प्रदान करती है। वर्ण पर आधारित व्यवस्था वर्ग व्यवस्था के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है जिसका परिणाम यह हुआ है कि 'जन्म' के स्थान पर 'कर्म' पर जोर दिया जाता है।

विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के लोकतांत्रीकरण के प्रभाव का अध्ययन करने से पूर्व हमें लोकतांत्रीकरण के तीन प्रमुख मूल्यों को समझ लेना चाहिए। इन मूल्यों का लोकतंत्रीय व्यवस्था से न केवल गहरा सम्बन्ध है बल्कि इनके बिना इस व्यवस्था का कोई अस्तित्व ही

सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता, समानता, सामाजिक न्याय, भ्रातृत्व तथा इसके अतिरिक्त बौद्धिक और धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण इनके मूल्य हैं। इनके व्यापक अर्थ का ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

लोकतंत्र के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न भारतीय सामाजिक संस्थायें जो हमारी सामाजिक संरचना का ताना-बाना बुनती हैं तेजी से प्रभावित हो रही हैं, और सामाजिक गतिशीलता को नये आयाम दे रही हैं।

विवाह संस्था पर लोकतांत्रीकरण का प्रभाव

भारतीय समाज में हिन्दू विवाह को एक संस्कार के रूप में किया जाता है। परिवार नामक सामाजिक संस्था को जीवित रखने के लिए संतानोत्पत्ति इसका मुख्य उद्देश्य है। आधुनिक भारतीय समाज में अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के क्षेत्र में विभिन्न समूहों, समुदायों के बीच बड़ी भिन्निता पायी जाती है। इसलिए सामाजिक सम्बन्धों व संस्थाओं में लोकतांत्रीकरण का रूप भी भिन्न प्रकार का है। यह संस्थागत विभिन्नतायें विवाह के उद्देश्यों को भी भिन्न कर देती हैं।

निम्न जातियों में लोकतांत्रीकरण का प्रभाव स्पष्ट पाया जाता है। डा० एम० एन० श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुये बताया है कि इस प्रक्रिया में निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों के बराबर आने की प्रेरणा सबल हो रही है। अन्य शब्दों में इसे उन्होंने 'जातीय गतिशीलता' कहा। उन्होंने इसे लोकतंत्र से प्रभावित बताया। पहले जातियाँ क्षेतिज स्तर पर जन्म से निर्धारित होती थीं। जब कि आज व्यक्ति की स्थिति व जाति के आधार पर निर्धारित न होकर उसकी योग्यता और कार्यकुशलता द्वारा निर्धारित होती हैं। इस प्रकार आज लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया के प्रभाव में क्षैतिज गतिशीलता के स्थान पर ऊर्ध्वाधर गतिशीलता हो रही है।

आज हिन्दू समाज में विवाह का परम्परात्मक लक्ष्य संतानोत्पत्ति न होकर शिक्षित व उच्च वर्ग में परिवार नियोजन द्वारा संतानोत्पत्ति को सीमित करने की प्रवृत्ति बन गया है। इसके अतिरिक्त संवेगात्मक और बौद्धीकरण की प्रक्रिया के कारण अब जीवन साथी के चुनाव में मां-बाप का हस्तक्षेप कम हो रहा है तथा विवाह में लड़के-लड़कियों की राय को प्रमुखता दी जाती है।

इसके अतिरिक्त लोकतांत्रीकरण ने श्रम विभाजन को अत्यधिक बढ़ावा दिया है अतः अब आर्थिक सहयोग पर भी अधिक बल दिया जा रहा है। आज आर्थिक सहयोग विवाह का एक उद्देश्य बनता जा रहा है। स्त्रियां आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने की आकांक्षा रखती हैं तथा बाहर निकल कर नौकरी करना पसन्द करती हैं। नगरों में शिक्षित तथा उच्च जातियों में धन पर पुरुषों का नियंत्रण शिथिल होता जा रहा है। अन्य शब्दों में धन व अर्थ संपत्ति पर स्त्री और पुरुषों का बराबर नियंत्रण देखा जाता है।

प्रजातंत्रीकरण के प्रभाव के कारण अन्तर्जातीय विवाहों में अप्रत्याशित वृद्धि हो रही है। इस प्रक्रिया ने लोगों में जाति-भांति के भेदभाव की खाइयों को कम किया है। परिणामस्वरूप शिक्षित व उच्च जाति वर्गों के लोगों में बिरादरी के बाहर विवाह करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, जिससे आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक सम्पर्क बढ़ाने में विवाह सहायक हो रहे हैं।

लोकतांत्रीकरण की तथा संवैधानिक व्यवस्थाओं के कारण बहु-विवाह की प्रवृत्ति समाप्त सी होती जा रही है और एक विवाह तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। विवाह की आयु विधान के द्वारा निश्चित कर दिये जाने विवाह के प्रति मनोवृत्ति में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ ही बाल-विवाह भी कम होते जा रहे हैं।

हिन्दू विवाह अधिनियम १६५५ की व्यवस्था के अनुसार तलाक व विधवा विवाह को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी है, जो लोकतांत्रीकरण से पहले प्रतिबंधित था।

परिवार पर लोकतांत्रीकरण का प्रभाव

भारतीय समाज में जनतांत्रीकरण की प्रक्रिया ने परिवार की संरचना व प्रकार्य दोनों को प्रभावित किया है जिसके परिणामस्वरूप आज की पारिवारिक संरचना व प्राचीन पारिवारिक व्यवस्था में प्रमुख अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

किंग्सले डेविस ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार के चार कार्यों का उल्लेख किया है जिनमें प्रजनन, बच्चों का पालन-पोषण व सामाजीकरण, व्यावसायिक प्रशिक्षण व उनकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण प्रमुख है। भारतीय संदर्भ में इन चारों कार्यों पर जनतांत्रीकरण का प्रभाव पाया जाता है। पहले संयुक्त परिवार बहुतायत में पाये जाते थे, लेकिन औद्योगीकरण व लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया में एकल या केन्द्रीय परिवारों को बल मिल रहा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पारिवारिक सदस्यों के सम्बन्धों व उनकी स्थिति में परिवर्तन दिखायी पड़ता है। पहले पिता की स्थिति परिवार में सर्वोपरि थी तथा सभी अधिकार पिता में ही निहित थे लेकिन लोकतांत्रीकरण ने पिता की सर्वोच्च स्थिति को प्रभावित किया है और अब उसमें बदलाब देखा जाता है। अब पिता-पुत्र, पति-पत्नी, सास-बहू के बीच पाये जाने वाले सत्तात्मक सम्बन्ध परिवर्तित होकर समानता और समझौते पर आधारित होते जा रहे हैं। इसके साथ ही परिवार की भूमिका में भी बदलाब देखा जाता है। पहले परिवार समाज का ठोस आधार माने जाते थे तथा समाज को बिगाड़ने व बनाने का बहुत कुछ दायित्व इन्हीं पर था, कारण कि परिवार ही आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक व चिकित्सा सम्बन्धी कार्य किया करते थे लेकिन औद्योगीकरण व नगरीकरण की प्रक्रिया ने परिवार के उपर्युक्त कार्यों को अब अलग-अलग संस्थायें करती हैं। अतएव परिवार की भूमिका में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है।

जाति प्रथा पर लोकतांत्रीकरण का प्रभाव

लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया ने जातियों के बीच पायी जाने वाली गहरी खाइयों व सामाजिक दूरी को कम किया है। अब जाति-पांति के बीच उतने कठोर भेद-भाव नहीं पाये जाते हैं जितने पहले थे। नगरीकरण के कारण होटलों, क्लबों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में एक साथ काम करने की परिस्थिति में विभिन्न जातियों के बीच पुरानी तनावपूर्ण स्थिति कम होती जा रही है तथा जातियों के बीच सहयोग की भावना पनपती जा रही है। इसकी परिणति प्रायः अन्तर्जातीय विवाहों के रूप में होती है।

विभिन्न जातियाँ अब लोकतांत्रीकरण के प्रभाव में पारस्परिक समानता का दावा कर रही हैं, क्योंकि अब सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न जातियों के लोग एक साथ कार्य करते हैं, शिक्षा प्राप्त करते हैं, प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं तथा रेलों, बसों आदि में एक साथ यात्रा करते हैं। इसके अतिरिक्त सिनेमा, क्लब व अनेक सार्वजनिक जीवन की संस्थाओं में एक साथ एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। अतएव इन सब स्थानों में पारस्परिक सहयोग बढ़ता जा रहा है जिससे 'विभिन्नता में एकता' की भावना पनप रही है।

अब निम्न जाति के लोग उच्च जाति के लोगों के प्रति सम्मान और श्रेष्ठता का भाव इसलिए नहीं रखते हैं कि वे जन्म से निम्न हैं, बल्कि अब दोनों ही जातियों के बीच योग्यता और कार्य कुशलता के आधार पर सम्मान व श्रेष्ठता का भाव पाया जाता है। आंद्रे बीटिल नामक समाजशास्त्री ने अपनी पुस्तक 'कास्ट्स : ओल्ड एण्ड न्यू' में लिखा है कि लोकतंत्रात्मक व्यवस्था व नवीन उत्पादन व्यवस्था ने भारत की जाति व्यवस्था और इसके संस्तरण में परिवर्तन उत्पन्न कर दिये हैं और हजारों जातियाँ अब कुछ एक वर्गों में सिमट रही हैं तथा आधुनिक युग में यह नवीन वर्ग भी वही भेद-भाव व वर्ग संस्कृति विकसित कर रहे हैं जो जातियाँ पैदा करती थीं, अन्तर केवल इतना आया है कि वर्गों की संख्या कम है जबकि जातियों की संख्या हजारों में है।

संविधान में समानता व स्वतंत्रता एवं धर्म-निरपेक्षता की व्यवस्था का व्यवहारीकरण हरिजन व उच्च जातियों के बीच देखने को मिलता है। जनतांत्रीकरण के फलस्वरूप अब निम्न जाति के व पिछड़े वर्ग के लोग भी समाज के उच्च पदों पर पदारूढ़ होते हैं। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था व धार्मिक भेदभाव नगरों में शिथिल हो रहा है।

शिक्षा-व्यवस्था पर लोकतांत्रीकरण का प्रभाव

आज शिक्षा सभी के लिए उपलब्ध है, सभी व्यक्ति समान रूप से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। जनतंत्र में शिक्षा का विशेष महत्व है। बिना शिक्षित हुए लोकतांत्रिक मूल्यों का पालन असम्भव है। अतः शिक्षा जनतंत्र का एक आवश्यक हिस्सा है। जैसे-जैसे व्यक्ति शिक्षित होता है वह भावात्मक कम और बौद्धिक अधिक होता जाता है और किसी वस्तु को वह बौद्धिक

दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करता है, जिससे रूढ़िवादिता व अन्धविश्वास कमजोर होते जाते हैं और समाज में विषमता के स्थान पर समतावादी मूल्यों का प्रभाव बढ़ता है ।

आज स्त्री शिक्षा का भी काफी विकास हुआ । आज की स्त्री १९वीं शताब्दी की स्त्री की भांति नहीं है बल्कि अब अनेक सामाजिक आर्थिक क्षेत्रों में स्त्रियों का सहयोग व भूमिका महत्वपूर्ण होती जा रही है । अब स्त्रियां भी राजनीति, प्रशासन, अर्थ, शिक्षा आदि के क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं । परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है । जनतंत्र की प्रणाली वास्तविक रूप से समाज के सभी वर्गों के लिए वरदान साबित हुयी है ।

इस सब के अतिरिक्त अन्य सामाजिक संस्थायें जैसे—धर्म, कर्म, संस्कृति आदि क्षेत्रों पर लोकतांत्रीकरण का प्रभाव पड़ा है । फलतः प्राचीन सामाजिक मूल्यों में आधारभूत परिवर्तन हुआ है । जनतंत्र की इस प्रक्रिया में हर व्यक्ति अब स्वतंत्रतापूर्वक खुली वायु में सांस ले सकता है । अपने मूलभूत अधिकारों को वह प्राप्त कर सकता है । अदालतें, पुलिस, राज्य विधान मण्डल की मूल व्यवस्था आम जनता के अधिकारों की सुरक्षा करती है, जिससे व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपना नैसर्गिक तथा इच्छानुसार विकास कर सकता है ।

भारतीय संदर्भ में लोकतंत्र ने सम्पूर्ण मानवीय और सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है जिसके परिणामस्वरूप लोकतंत्र मात्र सत्ता प्राप्त करने की व्यवस्था न रह-कर समस्त सामाजिक जीवन की एक विधि बन गया है ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्र शासन की पद्धति और राज्य का एक प्रकार होने के साथ-साथ एक जीवन विधि भी है । अतएव राज्य व शासन में लोकतंत्र तब तक सफल नहीं होगा जब तक यह सामाजिक जीवन के हर पहलू में विकसित न हो जाये अर्थात् आर्थिक क्षेत्र में यह उद्योगों का लोकतांत्रीकरण करे, सामाजिक क्षेत्र में व्यक्तियों को शिक्षित करे तथा उनके जीवन में वह सभी सम्पन्नतायें विकसित करे जिनके अभाव में उनका जीवन अन्याय व अत्याचार से ग्रस्त है । अतः जनतंत्र की सफलता केवल राजनीति द्वारा तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि वह जीवन के हर पहलू को आप्लावित नहीं करती ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

बीटिल, आन्द्रे — १९६९ — कास्ट्स : ओल्ड एण्ड न्यू, एशिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ ।

कार्लमैन्हीम — मैन एण्ड सोसायटी इन ऐन ऐज आफ सोशल रिकान्स्ट्रक्शन, लन्दन ।

डेविस, किंग्सले — १९४८ — ह्यूमन सोसायटी, न्यूयार्क ।

रस्तोगी, कृष्णमुरारी १६७८ लोकतंत्र—व्यक्तिगत और सार्वजनिक क्षेत्रों के परिवेश में, संसदीय पत्रिका, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, खण्ड २४, अंक ३, जुलाई-सितम्बर, १६७८।

श्रीनिवास, एम०एन० १६७२ सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया, ओरियन्ट लांगमैन, नई दिल्ली।

ओस्ट्रोगोर्कसी, एम० १६०८ डेमोक्रेसी एण्ड दि आर्गनाइजेशन आव पोलिटिकल पार्टीश, मैकमिलन, लन्दन।

बारबू, जेड० १६६५ डेमोक्रेसी एण्ड डिक्टेटरशिप, लन्दन एण्ड न्यूयार्क।

'परिवर्तोन्मुख सीमांत गाँव'–एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

प्रेम लाल एवं
कमलेश कुमार

रूपान्तरण प्रकृति का एक शाश्वत एवं अटल नियम है। प्रत्येक समाज परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक है। आज विश्व का कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जो परिवर्तन की दौर से न गुजरा हो। परम्परागत समाज से आधुनिक समाज में रूपान्तरण का तात्पर्य समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों से है। प्रत्येक घटना से घटित होने के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। गंगी गाँव वर्तमान में आत्मनिर्भर जीवन निर्वाह समाज से हट कर मुद्रा व्यवस्था की ओर जा रहा है जिससे गाँव के सामाजिक आर्थिक पर्यावरण का मुद्रा व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो रहा है।

क्षेत्र परिचय

'गंगी' गाँव उत्तर प्रदेश राज्य के जनपद टिहरी गढ़वाल में स्थित एक दूर दराज का गांव है। यह भिलंगना नदी के उद्‌गम खतलिंग हिमनद से २४ किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम तथा भिलंगना नदी की दांयी ओर लगभग १ किलोमीटर पश्चिम में ३०°–३८′ उत्तर अक्षांश एवं ७८°–५१′ पूर्व देशान्तर पर समुद्रतल से २६००-२८०० मीटर ऊँचाई पर स्थित है। गाँव के मध्य से एक नाला (गाड) पश्चिम-पूर्व बहता हुआ भिलंगना के साथ मिल जाता है। गाँव घने शीतोष्ण कटिबंधीय मिश्रित बन के बीच में बसा तथा अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

साँस्कृतिक पृष्ठभूमि

'गंगी' गाँव को विशिष्ट स्वरूप इसकी भौगोलिक अवस्थिति ने प्रदान किया है। उत्तर प्रदेश हिमालय में ऐसा कोई भी ग्राम नहीं जो इसकी अवस्थिति से समानता रखता हो। यह

प्रेम लाल, रिसर्च एसोसिएट हिमालयन अध्ययन संस्थान, श्रीनगर (गढ़वाल, उत्तर प्रदेश)
डा० कमलेश कुमार, रीडर भूगोल विभाग ग० वि० वि०, श्रीनगर (गढ़वाल)।

गाँव मोटर सड़क से लगभग २० किलोमीटर दूर तथा इसके आस-पास दूसरा ग्राम इससे कम दूरी पर नहीं है। ग्राम (समुदाय) की कर्मभूमि लगभग–५० किलोमीटर की लम्बाई में भिलंगना नदी के पार्श्व में उत्तर दक्षिण भिलंगना-भागीरथी जल-विभाजन के (सहस्रताल) से रीह तक कीपाकर में फैली है। यह ग्राम समुदाय के अध्ययन के लिए एक दुर्लभ पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है, कि किस प्रकार पर्यावरण मानव की सामाजिक आर्थिक अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है।

अध्ययन विधि

अध्ययन साक्षात्कार के माध्यम से किया गया है। अभी सूचना प्रारम्भिक दौर की है। वर्तमान समय में यहाँ ७५ परिवार हैं तथा कुल जनसंख्या–५०४ है। यह एक पोषित (close system) का सुन्दर उदाहरण है। इनका सम्पर्क पर्वतारोहियों और सैलानियों के माध्यम से बाह्य जगत से बढ़ रहा है।

गाँव का सर्वेक्षण करने तथा गाँव वालों से साक्षात्कार करने पर उनकी भाषा, रहन-सहन, खान-पान तथा शारीरिक बनावट विभलंगना घाटी के अन्य गांवों से भिन्न है। इन लोगों का कहना है कि इनके पूर्वज जनपद उत्तरकाशी के भागीरथी घाटी में स्थित सीला पिलखा गाँवों से आकर यहाँ बसे हैं। लेकिन इनकी वेश-भूषा व भाषा इन गांवों से भिन्न है। गंगी के पुरुष तथा स्त्रियों की शारीरिक बनावट आकृति गुजरों तथा हिमाचलियों से मिलती है। गंगी निवासी मुख्यतः लम्बाकद, सीधी नाक, लम्बा चेहरा, गोरा एवं गेहुंआ रंग लिए हैं। ऐतिहासिक आधारों, साहित्य प्रमाणों एवं भाषा विज्ञान के साक्ष्यों से विदित होता है, कि प्राचीन काल में जब हिमालय के जंगलों में कोल (मूल निवासी) जाति आखेट कर अपना जीवन निर्वाह करती थी, पूर्व ओर से लघु हिमालय की ढालों पर पशुचारण करती हुई किरात जाति ने हिमालय में प्रवेश किया (उत्तराखण्ड का इतिहास इबराल पृ० ६५-६६) प्राचीन साहित्य और स्थापत्य में इस जाति का किरात, कीर, किन्नर और भील नामों से उल्लेख मिलता है, उसका सम्बन्ध मुख्यतः भागीरथी के पश्चिम के पर्वतीय क्षेत्रों से जोड़ा जाता है। भील शब्द का प्रयोग सम्भवतः किरात और अन्य वनचर ज़ातियों के लिए व्यापक अर्थ में होता है। गढ़वाल में जहाँ अनेक कीर नामयुक्त गाँव मिलते हैं, जहाँ भागीरथी की सहायक आज भी भिलंगना कहलाती है। (उ०ख० का इतिहास इबराल पृ०—१०७-१०८) यह भी एक तथ्य है, कि भागीरथी और यमुना के पश्चात् भिलंगना गढ़वाल की तीसरी बड़ी नदी है। कहा जाता है उसके तट पर बसे हुए भिल्ल किरातों के कारण इसे भिलंगना नाम प्राप्त हुआ (ग० का इतिहास इबराल पृ० ३६) यह भी उल्लेख मिलता है, कि कश जाति मध्य एशिया में कश्मीर हिमाचल प्रदेश होते हुए गढ़वाल हिमालय तक छायी थी जिनका मुख्य देवता कशशू अथवा महासू था। गांगी निवासी धार्मिक एवं आर्थिक समानता के आधार पर हिमाचल तथा उत्तरकाशी के मोरी, नेटवाड, पुरोला, ओसला के लोगों के समान प्राचीन खश जाति के

स्मारक हैं इन लोगों का मुख्य देवता भी उत्तरकाशी जनपद के उक्त स्थानों के समान समेश्वर देवता ही है। इससे यह स्पष्ट है कि ये लोग उत्तरकाशी से आकर यहां बसे हैं। ये लोग प्राचीन समय से अभी तक पशुचारक हैं। अनुकूल जलवायु तथा वातावरण मिलने से ये लोग यहाँ बस गये। इन लोगों के पूर्वज पशुओं के साथ चारागाह की खोज में यहाँ आये होंगे।

गांव में कुल ७५ परिवार निवास करते हैं जिनकी वर्तमान में जनसंख्या ५०४ है। वृद्ध पुरुषों तथा स्त्रियों को देखने से लगा कि इनकी आयु लम्बी है। गाँव में ७१ परिवार राजपूतों के तथा ४ परिवार हरिजनों के हैं। राजपूतों में राणा, नेगी, रावत, डोराण, गाछू डल्याण, बुग्याण, जातियां हैं। हरिजन परिवारों में एक ही जाति है जिसको यहाँ के लोग भिखारी कहते हैं।

सामाजिक जीवन

ये लोग अपने पूर्वजों के पदचिह्न पर चले रहे हैं। तथा वर्तमान सुविधाओं तथा बाहरी लोगों से अपरिचित होने के कारण रूढ़ि विचारधाराओं के हैं। लोग घर के वयोवृद्ध पुरुष को परिवार का मुखिया मानते हैं। परिवार के सभी सदस्य मुखिया के कहने पर चलते हैं। तथा किसी भी कार्य करने से पहले परिवार के मुखिया की सलाह लेते हैं। यह गाँव अन्य गाँव से दूर-दराज एवं हिमालय के घने जंगलों के बीच स्थित होने से,लोगों के अन्य लोगों से न जुड़े होने के कारण यहाँ न भाषा में परिवर्तन हुआ, न रहन-सहन, भेष-भूषा में ही, ये लोग अपने प्राचीन सामाजिक परम्परा से ही जुड़े हैं। बाहरी लोगों या गाँवों से न जुड़े होने के कारण इन लोगों के वैवाहिक सम्बन्ध गाँव में ही होते हैं तथा अनेक जातियाँ होने के कारण ये लोग आपस में ही शादी विवाह कर लेते हैं। क्योंकि ये लोग इस क्षेत्र के लोगों से भिन्न हैं इसीलिए गंगी के लोग आपस में नातेदारी या सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। यहाँ पर जनसंख्या की धीमी वृद्धि के कारण लड़कों को लड़कियाँ नहीं मिल पाती हैं। गंगी में विवाह के लिए लड़के वाले लड़की वालों को रुपये देते हैं। गांव में वर्तमान में लड़की की कीमत ८०००/- रुपये से लेकर २२०००/- रुपये आँकी गयी है। इस समय गाँव में एक औरत है जिसकी कीमत २२००० हजार रुपये आंकी गयी है। गाँव वाले इसे २२००० की बांद (सुन्दरी) कहते हैं। धन अभाव के कारण गाँव में ३० पुरुष ३५ से ४० वर्ष की आयु वाले अविवाहित हैं। व दिन प्रतिदिन इस बढ़ती हुई कीमत के कारण विवाह नहीं कर पा रहे हैं। यहाँ पर औरत एक घर छोड़कर दूसरे घर में भी चली जाती है। लेकिन दूसरे घर में जाने पर औरत का मुद्रा मूल्य बढ़ता जाता है। गांव में २२००० हजार वाली औरत विवाहिता है जो पति का घर छोड़कर पिता के घर में रह रही है। ३५ तथा ४० वर्ष के लोगों के अविवाहित रहने से इसका परिणाम मुक्त यौन सम्बन्ध के रूप में देखने को मिलता है जो वास्तव में यहाँ के परिवेश से ही प्रभावित है। इन यौन सम्बन्धों को परिस्थितिवश सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है।

शादी विवाह छोटी उम्र में हो जाता है। गांव के लोग बचपन में सगाई कर देते हैं। तथा १२-१६ वर्ष की आयु में शादी कर देते हैं। विवाह उत्सव बड़े धूमधाम बाजों के साथ में

करते है। तथा विवाह के समय लड़की तथा लड़के वाले दोनों पक्ष पूरे गाँव के लोगों को भोजन करवाते हैं।

गाँव के सभी लोग संगठित हैं इन लोगों का आपस में परस्पर सहयोग और अच्छा विश्वास है। घरों में तालों का प्रयोग बहुत कम करते हैं। ये लोग आपस में खान-पान, लेन-देन अच्छे मित्र भाव से करते हैं।

खान-पान, रहन-सहन

खान-पान, रहन-सहन, इन लोगों का भिलंगना घाटी के लोगों से भिन्न है। खाने में अधिकतर मोटे अनाजों को खाते हैं। आँगल, मार्च्छा, जौ की रोटियां तथा आलू, कद्दू, राजमा की सब्जी खाते हैं। यहाँ पर चावल का उत्पादन नहीं होता, जिससे यहाँ के लोग धुत्सू, तथा घनसाली से ६ माह के लिए चावल का एक ही बार भण्डारण करते हैं। चावल तथा दाल इनका प्रिय भोजन है। चावल तथा रोटियों के साथ मांस को बहुतायत से खाते हैं। दूध, घी, दही तथा मठा इन लोगों का परम्परागत आहार है। तथा तेल के बदले चर्वी को पिघला कर रखते हैं। सब्जी दाल में फरण का छौंक देते हैं। प्याज, लहसुन धुत्सू से खरीद कर रखते हैं।

ऊँचे पर्वतीय तथा ठण्डे भागों के लोग अधिकांशतः मादक पदार्थों का इस्तेमाल करते हैं। पर ये लोग २८०० मीटर की ऊँचाई पर रहने पर भी शराबादि का स्तेमाल नहीं करते हैं। यह एक सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है। इन लोगों का मानना है कि ये लोग अपने देवता सोमेश्वर के डर से इस प्रकार की नशीली वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते हैं तथा रजश्वला औरतों से अस्पृश्यता करते हैं। रजश्वला औरतों से अस्पृश्यता गढ़वाल में सभी जगह करते हैं। ये लोग रजश्वला औरत का छुआ हुआ १० दिन तक नहीं खाते हैं तथा १४ दिन तक यौन सम्बन्ध भी नहीं करते, ये लोग जनेऊ भी धारण करते हैं। यहाँ के लोग स्नान बहुत कम करते हैं। औरतें रजश्वला होने पर ही स्नान करती है स्नान में सिर्फ शिर तथा पाँव धुलते हैं। पूरे शरीर को नहीं धोते हैं और न कपड़े धुलते हैं। अधिक ठण्ड तथा कपड़ों के अभाव में स्नान तथा कपड़ों को नहीं धोते हैं। इन लोगों के सभी पहनने के कपड़े ऊनी होते हैं।

वेश-भूषा

गंगी ग्रामवासियों का मुख्य पहनाव ऊनी कपड़ों का है ये लोग स्वयं ऊनी कपड़ों को बुनते तथा बनाते हैं भेड़ की ऊन से ये लोग पाजामा, शाल, कोट, चटाई, कम्बल, दुपट्टा, थुल्मा बनाते हैं जिसके नाम निम्न प्रकार से हैं :

कुरता—अन्दर से पहनने का खद्दर का बना होता है।
हिजार—पाजामा।

डिग्ला—मिरजै लम्बा कोट इसके नीचे के पल्ले चौड़े होते हैं।
लकेड़ू—मिरजें के बाहर कमर बन्द १ इंच चौड़ी रस्सी ऊन की बनी हुई।
मुनेशा—शिर की सफेद पगड़ी।
आँगड़ी—औरतों का ब्लाऊज ऊन का बना होता है।
पठेड़ू—ऊन का दुपट्टा स्त्रियों की कमर पर लपेटने के लिए।

महिलायें धोती के बदले एक ऊन की कम्बल की तरह का वस्त्र पहिनती हैं। पेटीकोट नहीं पहनती। गाँव में केवल एक ५० वर्षीय औरत ने पेटीकोट पहन रखा था। उसने गंगोत्री, बद्रीनाथ, केदारनाथ की यात्रा भी कर रखी है। पुरुष अन्दर से कुरता पहनते हैं। पाँवों में प्लास्टिक का जूता पहनते हैं। जूते स्त्री-पुरुष दोनों पहनते हैं। बाहर से स्वीटर तथा मिरजें पहनते हैं। आभूषण औरतें तथा पुरुष दोनों ही पहनते हैं। औरतें कान पर चाँदी के मुर्खले (कुण्डल) पहनती हैं। एक कान पर ४ से ६ मुर्खले पहने होते हैं। नाक में सोने की बुलाक या चाँदी का सूत पहनती हैं तथा हाथों में कड़ा पहनती है। अब गाँव में चूड़ियाँ भी प्रचलित हो रही हैं। तथा गले में तिमाण्या (लाल माला) पहनती हैं। पुरुष कानों में सोने के मुर्के (कुण्डल) तथा हाथ में चांदी का कड़ा एक अंगूठी पहनते हैं। अंगूठी किसी भी धातु की पहन लेते हैं। मुर्के, कड़ा इस प्रकार के आभूषण गढ़वाल हिमालय में हर जगह प्रचलित थे। अब मुर्के कड़ा पहनना कम हो गया है।

धार्मिक मान्यतायें

ये लोग देवी देवताओं की भी पूजा करते हैं। लेकिन हिन्दुओं के मुख्य देवताओं, धार्मिक ग्रन्थों से परचित नहीं हैं। इनका मुख्य देवता सुमेरू या सोमेश्वर है इसके अतिरिक्त ये लोग शिव की पूजा भी करते हैं गाँव के मध्य में सोमेश्वर का मन्दिर दो-मंजिला है। मन्दिर के सामने हवन करने के लिए चौकोर गहरा गड्ढा एक फुट तथा तीन फुट लम्बा चौड़ा है। मन्दिर के चारों कोनों में छोटे-छोटे चार कमरे बने हैं जो देवता के भण्डारण हैं। इन भण्डारणों में बड़े-बड़े ताले लगे हैं। गाँव के ऊपर उत्तर में भैड नामक स्थान पर शिव मन्दिर बना है शिव मन्दिर के दोनों कोनों पर शिव भण्डारण बने हैं। इन भण्डारणों में पूजा की सामग्री बर्तन रखे होते हैं। सोमेश्वर के मन्दिर में ऊपरी मंजिल में देवता की मूर्ति तथा नीचे गाँव के लोगों को बैठने के लिए बना है। सोमेश्वर को ये लोगा नचाते हैं। बहुत बड़ा भण्डारा गाँव में लगता है। सोमेश्वर की एक जात (यात्रा) सहस्रताल (दर्शनीताल) स्थान के लिए ४६४५ मीटर की ऊँचाई पर ले जाते हैं ये गाँव का बहुत बड़ा उत्सव मेला है। यहाँ के लोग हिन्दू त्यौहारों से अपरिचित हैं। दीपावली, होली, जन्माष्टमी, दशहरा, बसन्त पंचमी, किसी भी त्यौहार को नहीं जानते न मनाते हैं। गाँव के लोग सिर्फ शिवरात्रि का त्यौहार मनाते हैं।

गाँव में मनोरंजन के साधन इन लोगों के सामूहिक लोक नृत्य हैं। या फिर सोमेश्वर की

जात । इसके अतिरिक्त किसी प्रकार से आधुनिक मनोरंजन के साधन नहीं हैं, औरत, पुरुष सामूहिक गीत नृत्य करते हैं तथा आपस में खूब हंसी मजाक करते हुए नाचते गाते हैं ।

आवास प्रतिरूप

गाँव के मकान एक दूसरे से सटे हुए हैं । आने जाने के लिए ३ फुट से ४ फुट चौड़ी संकरी गलियाँ हैं । मकानों की छतें अलग-अलग सामग्री से बनी हैं । इन लोगों के दो गाँव हैं जहाँ ये ऋतु या मौसम के अनुकूल रहते हैं । इनका मुख्य गाँव गंगी तथा एक दो गाँव रीह है । रीह में ये लोग शीत ऋतु में रहते हैं तथा ग्रीष्म में गंगी रहते हैं । रीह के अतिरिक्त इनके कई अस्थाई निवास हैं । अस्थाई निवास घास फूस के बने होते हैं । जिन्हें छानी कहते हैं । रीह में पत्थरों की दिवार के मकान हैं । मकानों की छत लकड़ी के पटेलों (लकड़ी के फट्टे की बनी हैं । गंगी जो इनका मुख्य गाँव है यहाँ पर मकान पत्थर की दिवारों से बने हैं । छतें अलग-अलग सामग्री से बने हैं । मकान की छतें टिन, पत्थर के स्लैब, लकड़ी के पटेलें (पट्टे) घास-फूल की बनी हैं । मकानों की छतों में प्रयोग की गयी सामग्री वाले आवासों की संख्या—

सामग्री	आवासों की संख्या
१—पक्के मकान जिनमें पत्थर के स्लैब प्रयोग किए गए है उन्हें पठाल कहते हैं ।	३० मकान ।
२—टिन की छत वाले मकान	४ मकान २ व्यक्तिगत, २ सरकारी । (अ) बेसिक पाठशाला (ब) जंगलात की धर्मशाला
३—लकड़ी के पटेलों की छत वाले मकान	५३ मकान जिनके छतों में पटेलों (लकड़ी के पट्टे) की छवाई की गई है ।
४—घास फूस की छतवाली मकाने	१० मकाने ।

गाँव में कुल मकानों की संख्या ९७ है जिनका प्रतिरूप सघन है । इन मकानों के दरवाजे पूरब तथा पश्चिम की ओर हैं । गाँव में १३ पन्नचक्कियाँ हैं ।

गाँव में मकान दोपुरा (दो मंजले) हैं । एक मकान में ६ से ८ कमरे होते हैं । तथा ऊपरी मंजिल में एक बरामदा होता है जिसको डंडेला कहते हैं । दोपुरा मकानों में छज्जा लगा होता है तथा डंडेला बरामदे में तेवार लगी होती है । मकान के चौखट दरवाजों पर अच्छी पच्चीकारी होती है । ऊपरी कमरों में जाने के लिए मकान पर मुख्य दरवाजा बना होता है जिसे खोली कहते हैं । खोली के स्तम्भ १ फिट चौड़े फलक का ५ फिट लम्बाई का चौखट होता है । खोली पर अच्छी पच्चीकारी तथा बीच में फूल बना होता है । तेवार के स्तम्भ तथा दरवाजों पर अधिकतर पच्चीकारी की हुई है । मकानों में लकड़ी के जंगले भी बनाये गये हैं ।

आँगन में पत्थर काटकर बिछाये हुए हैं उन पत्थरों में ये लोग अनाज सुखाते हैं तथा मच्छर्ा ओगल की मंडाई करते हैं।

अर्थ व्यवस्था

कृषि एवं पशुपालन इन लोगों का मुख्य व्यवसाय है। व्यवस्थित पशुपालन अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। जो यहाँ की जलवायु विपुल वनसम्पदा से प्रभावित है। कृषि के लिए यहाँ पर सिंचाई की सुविधा तो है, लेकिन न्यूनतम तापमान के प्रभाव में धान तथा सब्जी यहाँ पर नहीं उगायी जाती है। यहाँ की मुख्य फसलें माच्छर्ा/रामदाना (चौलाई) ओगल, जौ है। सब्जियों में आलू, कद्दू, छेमी, मूली मुख्य हैं। इन फसलों में गेहूं भी उगाया जाता है। गेहूं सितम्बर माह में बोया जाता है और जून में गेहूं की फसल तैयार हो जाती है। गेहूं की फसल तैयार होने में १० माह लग जाते हैं। गंगी ग्रामवासियों का उपग्राम रीह है जो गंगी से ११ किलोमीटर दक्षिण में २१०० मी० की ऊँचाई पर स्थित है। गंगी इनका स्थाई अधिवास है। शीतऋतु में ये लोग रीह में आ जाते हैं। गंगी से रीह सप्ताह में एक बार प्रत्येक परिवार देख रेख के लिए आया करता है। तथा कुछ लोग शीतकाल में गंगी में रहते हैं। इन लोगों का मुख्य व्यवसाय पशुचारण है। पशुचारक होने के कारण इनके कई अस्थाई निवास हैं। इन अस्थाई निवासों में से लोग ग्रीष्म काल में पशुओं के साथ रहते हैं। अधिकांशतः ये लोग भेड़-बकरियों के साथ बुग्यालों में रहते हैं। इनके चरागाह ताली, झपका, दयोली, धेराका कोना नचना, दोमुखा खोली, पिपलघाट, खेडाधार चौकी खुईठारी बुग्याल हैं। अपनी बकरी व भेड़ों के साथ ये अन्य गाँवों की भेड़ बकरियों को भी चुगाँते है। बरसात में धुत्सू के आस-पास के सभी गाँव के लोग इन्हें बकरी ब भेड़ चुंगाने को देते हैं। गंगी के लोगों का धन अर्जन करने का अच्छा साधन है। गंगी के लोग दूसरे गाँव वालों से पूरे बरसात की चुँगाई एक भेड़ पर ८ रुपये तथा बकरी पर १२ रुपया लेते हैं। और इसके अतिरिक्त प्रति ५ भेड़ पर ४ पाथा (८ किलो) धान भी लेते हैं। जिससे खाद्यानों की पूर्ति होती है। अगर भेड़ बकरी मर जाय तो मर जाने पर भेड़-बकरी की कीमत वास्तविक कीमत से आधा हो जाती है। जिसमें मालिक को इसकी कीमत का आधा भाग ही मिल पाता है। भेड़ व बकरी के पहिचान के लिए मालिक के पास कान काट कर ले जाते हैं तथा मांस स्वयं खाते हैं। या सुखाकर बड़ी बनाकर रख देते हैं। गाँव में मांस को १२-१५ रुपये किलो में देते हैं।

गाँव के लोगों के प्रति परिवार के पास ८०-१०० भेड़ बकरियाँ हैं, जो गरीब लोग हैं उनके पास ४०-५० बकरियाँ तथा भेड़ हैं। तथा ५-७ भैंसे प्रत्येक परिवार की हैं।

ये लोग शीत काल के लिए पशुओं का चारा एकत्रित करके रखते हैं क्योंकि शीत काल में इस क्षेत्र में काफी कड़ाके की शर्दी पड़ती है तथा इनके उपगाँव रीह तक हिमपात होता है। इस समय ये लोग पशुओं को रीह तथा गंगी में रखते हैं। इन पशुओं के लिए मुख्य चारा जनांऊ तथा मूर है। इस घास को जंगलों से सितम्बर माह में एकत्रित करते हैं तथा इस

घास को रस्सी की तरह बट कर सुखाते हैं। घास को सुखाने के लिए घर के आँगन में दो बड़े खम्भे गाड़ कर उसमें रस्सी लगाकर घास को लपेटा जाता है। तथा सुखा कर घर के अन्दर रख देते हैं।

यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन तथा कुटीर धन्धे हैं। लेकिन इसके साथ-साथ कृषि फसलों का उत्पादन भी करते हैं जिनमें अधिकांश फसलें व्यापारिक हैं। यहाँ पर उगाई जाने वाली फसलें मार्च्छा/रामदाना (चौलाई) ओगल, जौ, गेहूं है। तथा सब्जियों में आलू, छेमी (राजमा) कद्दू, मूली हैं। यहाँ पर मार्च्छा ओगल तथा आलू का उत्पादन सबसे अधिक होता है। गेहूं अल्प मात्रा में ही होता है, जिनमें मार्च्छा, ओगल, आलू, राजमा इन लोगों की व्यापारिक फसलें हैं। बकरियों में मार्च्छा, ओगल, आलू, राजमा बेचने के लिए धुत्सू, धनसाली ले जाते हैं। वहाँ से बदले में चांवल, चीनी, गुड़, मसाले, चाय, नमक मुख्य खाद्य सामाग्री को लाते हैं इन समस्त फसलों का वस्तु विनिमय करते हैं। कृषि व्यवसाय के साथ-साथ कुटीर धन्धे, ऊन की सफाई करना, ऊन कातना, कपड़े बुनना, कम्बल, कोट, (चटाई) ये सारे वस्त्र ऊन के बने होते हैं। रिंगाल चटाई, टोकरियाँ, स्वालटा, घीडे, झाबड़े, घेरू अनेक चीजें बनाते हैं। बैठे समय में औरत तथा पुरुष कुछ न कुछ करते रहते हैं। इनके हाथ में तकली हर समय होती है। ये लोग समय का बहुत सदुपयोग करते हैं जंगलों से जड़ी-बूटियाँ निकालने का काम भी करते हैं। इन्हें सभी जड़ी बूटियों का ज्ञान है। बनस्पति विज्ञान के शोधकर्ता छात्र भी इन्हीं से जड़ी बूटियां खुदवाकर लाते हैं। तथा इसके परिश्रम का इन्हें पारितोषित दिया जाता है। जो इनकी मजदूरी होती है। ये जड़ी-बूटियों में अतीत, निरबिसी, फरण चौरा, कई प्रकार की जड़ी बूटियों खोजकर लाते हैं। तथा इन जड़ी बूटियों को अधिकतर ठेकेदारों को बेचते हैं। ये लोग इन जड़ी-बूटियों को बहुत कम कीमत पर बेचते हैं ठेकेदार इनका तीन गुना लाभ प्राप्त करते हैं। पशु चारण कृषि, कुटीर धन्धों के अतिरिक्त ये लोग पर्यटकों के साथ मार्ग दर्शन तथा कुली का काम भी करते हैं। ये लोग ४० रु० प्रति दिन की दर से मजदूरी लेते हैं। पर्यटक मजदूरी के अतिरिक्त इनके साहसिक कार्य से प्रसन्न होकर कपड़े, जूते, वस्त्रादि देते हैं। ये लोग पर्यटकों के कारण काफी कुछ सीख गये हैं। यह क्षेत्र पर्यटकों के लिए धीरे-धीरे काफी प्रसिद्ध होता जा रहा है। प्रति वर्ष ग्रीष्म तथा शीत में पर्यटक इस क्षेत्र में जाते हैं। ग्रीष्म में खतलिंग सहस्त्रताल ताली, पंचाली, क्यारकी को देखने जाते हैं। तथा शीत में इन लोगों की संस्कृति तथा रहने खाने का ढंग देखने जाते है पर्यटकों के कारण इनमें जागृति तथा धन लोलुप्ता अधिक आ रही है। यह दूध घी का क्षेत्र होने पर भी ८ रु० लीटर दूध है तथा ५ रु० किलो आलू। ये लोग पर्यटक से किसी भी प्रकार से लाभ चाहते हैं। इससे ये अपने परम्परागत समाज से आधुनिक समाज की ओर परिवर्तित हो रहे हैं। ये लोग अधिक से अधिक धन अर्जन करना चाहते हैं। यह धन ये लोग शादी के लिए एकत्रित करते हैं। इसी लिए इन के पास हर वस्तु की कीमत बहुत अधिक है। यहाँ पर भाव बाजार भाव से दुगना है।

विनिमय व्यवस्था व बाजार

परम्परागत विनिमय प्रणाली वस्तु विनिमय रही है। उत्पादित अनाजों व सब्जी के बदले में ये लोग अपनी आवश्यकता के खाद्य चावल, नमक, गुड़, मसाले, चाय, चीनी लेते हैं। इस खाद्य सामग्री को ओगल (कुट्टू) मार्च्छा, आलू, राजमा, आदि के बदले में लेते है। खाद्य सामग्री के अतिरिक्त ये लोग सूती कपड़ा, जूता सिर की पगड़ी को भी अनाज के बदले में लेते हैं। ये लोग बनी हुई ऊन के गोले तथा साफ की हुई ऊन के बदले में नगद रूपया तथा कपड़े, जूते चावल लेते हैं। १ किलो बुने ऊन के तागे में २० किलो चावल की दर से विनिमय करते हैं।

यह क्षेत्र मोटर सड़क से २०-२४ किलोमीटर सुदूर हिमालय की गोद में शीतोष्ण घने जंगलों के बीच में होने से तथा मोटर सड़क के अभाव में ये लोग आधुनिक युग से बहुत पीछे हैं। इनका मुख्य बाजार धनसाली है जो गंगी से ५५-६० किलोमीटर दूर है तथा एक छोटा बाजार धुत्सू है जो गंगी से २०-२४ किलोमीटर दूर है तथा ये सामान लाने-ले जाने में बकरियों से वाहन का काम लेते हैं। दूर क्षेत्र में होने के कारण ये लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुयें स्वयं बनाते हैं तथा आत्मनिर्भर हैं। आग जलाने, प्रकाश के साधन, तथा वस्दुओं को तोलने के लिए इनके अपने उपकरण हैं। सड़क यातायात के न होने से चिकित्सा, बैंकिंग, शिक्षा, कृषि, विद्युत, किसी प्रकार के साधन नहीं है। जिससे इनकी समस्याओं का समाधान हो सके। गाँव में एक बेसिक पाठशाला है जिसे खुले २ वर्ष मात्र हुए हैं। इसमें सहारनपुर के अध्यापक नियुक्त किए गए है। तथा विद्यार्थियों की कुल संख्या १५ है। जिनमें ६ लड़के तथा ६ लड़कियाँ है। इनकी मुख्य समस्या चिकित्सा व मोटर यातायात की है। गाँव का कोई भी व्यक्ति सरकारी अर्द्धसरकारी नौकरी नहीं करता न गाँव से कोई बाहर शहरों में ही है। बाहरी दुनिया से अपरिचित हैं। गाँव में केवल दो दुकानें हैं जो उसी गाँव के लोगों की हैं। इन दुकानों में सभी प्रकार का सामान उपलब्ध हो जाता है। दुकानों में पर्यटकों के उद्देश्य का सामान रखा है जिसमें पाउडर का दूध, चीनी, गुड़, मसाले, छुवारे, बीड़ी, चावल, आटा, सिग्रेट सभी वस्तुयें उपलब्ध हो जाती हैं। इस सामान को धुत्सू से बकरियों में लादकर लाते हैं। यातायात की सुविधा न होने से इन लोगों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यातायात के अभाव में यहाँ पर किसी प्रकार के सेवा केन्द्र नहीं है। अपनी छोटी-मोटी आवश्यकतायें गाँव की दुकानों से पूरी करते हैं।

उपकरण

यहाँ के लोगों का वस्तुओं के तौल, जोख, आग जलाने के साधन रात्रि में प्रकाश के लिए बहुत प्राचीन उपकरण हैं जिन्हें ये लोग अभी तक प्रयोग करते हैं। गाँव में मांचिस आदि सुलभ होने पर भी ये लोग इसका बहुत कम प्रयोग करते हैं। आग तैयार करने का इनके

पास एक उपकरण है जिसे अगेला कहते हैं। अगेला स्त्री व पुरुष दोनों ही अपने पास रखते हैं इनके मुख्य तीन आवश्यक उपकरण हैं।

(१) अगेला लोहे का एक उपकरण है। जिसके साथ फटींग (क्वार्ज पत्थर) तथा कबास की पतियों से निकाला रेसा 'कवास' से आग तैयार की जाती है। फटींग, कबास को साथ कर लोहे के उपकरण और फटींग को रगड़ कर आग घास पर सुलग जाती है और आग तैयार हो जाती है।

(२) तूल (तराजू) इन लोगों के पास तौल-जोखा के जिए लोहे की एक डन्डी वाला तराजू होता है। जिसके आगे का हिस्सा बारीक व पीछे का हिस्सा मोटा होता है। बारीक हिस्से पर एक छोटी कटोरी डोरी या बारीक जंजीर से बंधी होती है तथा डण्डी पर गोल लकीर होती है। जिसे (धर्मआखर सन्तुलन कहते हैं। इस रेखा पर तराजू का बराबर (सन्तु-लन) भार होता है। इसका उपयोग ऊन तौलने तथा बर्तन तौलने के लिए किया जाता है।

इसमें पौल, टका, छटांग, आदि पैमाने लकीरों द्वारा दिखाये होते हैं।

तौल के ये प्राचीन पैमाने हैं।

प्रकाश के लिए उपकरण

इन लोगों के पास मिट्टी का तेल, विद्युत के अभाव में प्रकाश किसी प्रकार का साधन नहीं है। प्रकाश के लिए एक तिकोना पत्थर होता है। इस पत्थर पर दो कोनों के बीच में छेद किया होता है। पत्थर के दोनों कोनों को डोरी (रस्सी) की सहायता से चूल्हे के ऊपर चूल्हे से १ फिट पीछे लटका दिया जाता है। चूल्हे से यह पत्थर १ फिट ऊपर लटका होता है। इस पत्थर के बीच के छेद पर रिंगाल की सूखी लम्बी छड़ी चूल्हे में लगा देते हैं और जैसे-जैसे रिंगाल जलती जाती है। रिंगाल को आगे-आगे खिसकाते जाते हैं। रिंगाल की छड़ पूरी तरह जल जाने पर फिर दूसरी छड़ छेद पर लटका देते हैं। यही इन लोगों के प्रकाश का साधन है।

गाँव के लोग पशुचारक होने के कारण अधिकांशतः जंगलों में रहते हैं। ये लोग काफी साहसिक होते हैं। शिक्षा के अभाव में अपनी प्राचीन मान्यताओं को अधिक मानते हैं। सीमित परिवारों के होने तथा आपस के शादी-विवाह सम्बन्धों के कारण गाँव संगठित है। साथ ही आपस में मेल-मित्रता विश्वास अधिक है। इनके रहन-सहन, खान-पान, भेष भूषा, में किसी प्रकार का परिवर्तन तो नहीं हुआ लेकिन अब बाहरी लोगों को देखने पर वे अपनी आवश्य-कताओं को समझ रहे हैं। इन्हें किस प्रकार का पर्यावरण चाहिए चिकित्सा, विद्युत यातायात की सुविधा चाहते हैं। गांव के सभी बच्चे, वृद्ध औरतें तथा पुरुष, हर समय अपने धन्धों में लगे रहते है। ये लोग समय का सदुपयोग अच्छा करते हैं, धन अर्जन करने की इन लोगों में एक प्रतिस्पर्धा है। यह स्पर्धा भविष्य में आने वाली सन्तान की शादी के लिए धन एकत्रित करना है। इन लोगों की अधिकतर आय पर्यटकों से होती है। ग्रीष्म काल में इस क्षेत्र में

काफी पर्यटक भ्रमण तथा यात्रा के लिए आते हैं। यहाँ स्त्रियाँ पर्यटकों से बेहिचक बातें करती हैं। इन लोगों की मुख्य समस्या सन्तान उत्पत्ति की है। यहाँ के वृद्ध पुरुष स्त्री सन्तान उत्पत्ति के बारे में पूछताछ करते रहते हैं कि सन्तान न होने का क्या कारण है तथा पुरुष स्त्री के प्रति काफी वफादारी से कार्य करता है। स्त्री को अच्छा सम्मान देते हैं। तथा अपने गाँव के सीमित समाज के साथ जीवन निर्वाह करते हैं यहाँ के लोग आधुनिक सुख सुविधा में काफी पीछे हैं क्योंकि इन तक पहुंचने के लिए किसी प्रकार के साधन नहीं हैं जिससे ये लोग आधुनिक सुविधाओं का उपभोग नहीं कर पा रहे हैं।

खादी बुनकरों की पारिवारिक पृष्ठभूमि

अर्जुन सिंह

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा अनेक ग्रामोद्योग-योजनायें भारतवर्ष में प्रारम्भ की गई। अनुभव के आधार पर समय-समय पर उनमें अनेक परिवर्तन और परिवर्धन किये गये। कुछ योजनायें विशेषकर समाज के निम्न आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए बनाई गईं और उनके प्रति प्रोत्साहित भी किया गया। उन्हीं में से एक खादी ग्रामोद्योग है, जिसके लिए सरकार ने अनेक सुधार एवं कल्याण कार्यक्रम अपनायें हैं।

परिवार समाज की संरचनात्मक ईकाई है। व्यक्ति के जीवन से सम्बद्ध विभिन्न पक्षों, आचार-विचार, आदर्श, प्रवृत्ति, निष्ठाओं आदि के अतिरिक्त व्यवसाय के निर्धारण में परिवार एक महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। व्यवसाय का सम्बन्ध, पारिवारिक पर्यावरण जिसमें उसकी जाति के परम्परागत व्यवसाय, शैक्षिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, व्यावसायिक स्थिति तथा परोक्ष रूप से आवासीय स्थिति से भी होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में खादी बुनकरों की पारिवारिक समाजार्थिक स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। दूसरे शब्दों में उनकी पारिवारिक दशाओं के उन्नयन में तथा उद्योग पर सरकारी कार्यक्रम और प्रोत्साहनों का कितना सफल प्रभाव हुआ है, इस अध्ययन के उद्देश्य हैं।

रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय बरेली [उ० प्र०] द्वारा समाजशास्त्रीय स्नातकोत्तर परीक्षा हेतु स्वीकृत "धामपुर नगर में खादी ग्रामोद्योग" विषयक परियोजना प्रतिवेदन प्रस्तुत लेख का आधार है जिसमें अवलोकन अनुसूची एवं साक्षात्कार प्रविधियों के माध्यम से दत्तों का संकलन एवं विवेचन किया गया है। जनपद बिजनौर [उ० प्र०] का तहसील मुख्यालय धामपुर नगर इस अध्ययन का क्षेत्र रहा है। अध्ययन क्षेत्र में खादी का कार्य वृहद स्तर पर होता है, जिससे खादी बुनाई केवल मुस्लिम सम्प्रदाय द्वारा ही होती है। (अध्ययन क्षेत्र में कुल

अर्जुन सिंह, शोध छात्र, आर० एस० एम० कॉलेज, धामपुर, जिला बिजनौर

मुसलमानों की संख्या ७०२२ है (१६८१ की जनगणना के आधार पर) जिनमें ५०१० (लगभग ७१.३% खादी उद्योग से सम्बन्धित है।) कुल५०४ बुनकर परिवारों में से ५० परिवारों का चयन अध्ययन हेतु किया गया है।

उपलब्धियाँ

शैक्षिक स्थिति

शिक्षा व्यक्ति में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा व्यावसायिक समस्याओं के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण का विकास करती है। बुनकर परिवारों में मुखिया की शैक्षिक स्थिति के दत्तों से स्पष्ट होता है कि उनमें उच्च शिक्षा और तकनीकी शिक्षा का सर्वथा अभाव है। २४% बुनकर अशिक्षित हैं, १६% केवल उर्दू का ज्ञान रखते हैं तथा मात्र ४% की शिक्षा हाईस्कूल स्तर से ऊपर है [सारणी संख्या—१]।

बुनकर परिवार के सभी सदस्यों का शैक्षणिक स्तर यह दर्शाता है कि आधुनिकीकरण के वर्तमान प्रक्रम में पुरुषों की संखया में विस्तार हो रहा है किन्तु स्त्री शिक्षा बहुत कम मात्र ८% है [सारणी संख्या—२]। नगरीय अध्ययन क्षेत्र में समस्त शैक्षिक सुविधायें उपलब्ध होने पर शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत ४१.७ है, अन्यथा ग्रामीण क्षेत्रों में यह सम्भवतः कम ही होगा। शिक्षा का स्तर निम्न होने के प्रमुख कारण अधोलिखित हैं।

१— बालिकाओं की शिक्षा को सभी बुनकर अनुपयोगी मानते हैं तथा उनका घर से बाहर जाना अनुचित समझते हैं।

२— बुनाई मशीन घर पर लगी होने से अध्ययनरत छात्र की व्यवसाय में भी भागीदारी रहती है तथा पढ़ाई में थोड़ी भी अरुचि होने पर उसकी शिक्षा बन्द करा देते हैं।

३— शिक्षा महंगी होने के कारण उसका व्यय वहन करना सम्भव नहीं होता।

४— बुनकरों की निम्न आर्थिक स्थिति बच्चों को व्यवसाय में लगाकर धनार्जन के लिए बाध्य करती है।

आवासीय स्थिति

बुनकरों के आवासीय स्थलों का अवलोकन करने पर पाया गया कि निवास स्थान का उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है जिनमें स्वच्छता, प्रकाश तथा शुद्ध वायु का सर्वथा अभाव है। घरों में रहने हेतु कमरों की संख्या अपर्याप्त है। ८० बुनकर एक या दो कमरों वाले घरों में रहते हैं [सारणी संख्या—३]। उन्हीं में बुनाई के लिए मशीनें लगी हुई हैं। अधिकांश मकान पक्के हैं, जिन पर छतें पक्की ईंटों द्वारा या खपरेल द्वारा बनाई गई हैं

किन्तु फर्श कच्चा भी है। बिजली और पानी की सुविधा पर्याप्त है। आवासीय सुविधा अधिक उत्तम न होने का मुख्य कारण उनकी सीमित आय है।

आयु संरचना

खादी बुनकरों की आयु संरचना को देखने पर ज्ञात होता है कि इस व्यवसाय में ६४% बुनकर ४० वर्ष से अधिक आयु वर्ग के हैं, मात्र १४% बुनकर ३० वर्ष तक की आयु वर्ग के हैं। इस अध्ययन के दत्तों [सारणी संख्या—४] से स्पष्ट होता है कि यह व्यवसाय परम्परागत है जिसमें युवकों की रुचि उत्तरोत्तर कम हो रही है। युवा आयु [४० वर्ष तक की आयु वाले] के बुनकर इस व्यवसाय को त्याग कर दूसरे व्यवसायों की ओर प्रवृत हो रहे हैं।

आर्थिक स्थिति

परम्परागत रूप से यह समझा जाता है कि उच्चतर समाजार्थिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध व्यक्ति ही सफल व्यवसायी हो सकते हैं। यही कारण है कि सदैव धनी व्यक्तियों का ही उद्योगों पर अधिपत्य रहा है। बुनकरों के परिवारों की मासिक आय तीन वर्षों के औसत आधार पर स्पष्ट करती है कि ४०% की मासिक आय रु० १०० तक है जबकि ६% की मासिक आय रु० ५०० से अधिक है। सामान्यतया: [८६%] बुनकरों की मासिक आय रु० ४०० तक है जो अत्यन्त कम है [सारणी संख्या—५]। निम्न शैक्षिक स्तर तथा स्वास्थ्यप्रद आवासीय व्यवस्था की कमी उनके निम्न आर्थिक स्तर के कारण ही है। सीमित आय से परिवार की प्राथमिक आवश्यकताएं ही पूर्ण हो पाती हैं तथा बुनकर अन्य व्यय वहन करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं।

व्यावसायिक स्थिति

मनुष्य को अपनी लगभग सभी आवश्यकताओं की पूर्ती धन के द्वारा ही होती है। धन के द्वारा ही वह अपने सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्तर को ऊँचा उठा सकता है। इसी लिए समाज में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार से धर्नाजन करता है, जिसको व्यवसाय की संज्ञा दी जाती है। अधिकांश बुनकरों का खादी बुनना परम्परागत और वंशागत व्यवसाय है। इस व्यवसाय के अतिरिक्त तथा साथ–साथ बुनकर अन्य व्यवसाय भी करते हैं। अध्ययन से सम्बिन्धित अधिकांश बुनकर [८४%] केवल इसी व्यवसाय को मुख्य व्यवसाय के रूप में करते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से अन्य व्यवसाय कम हैं [सारणी संख्या—६]। अन्य व्यवसायियों को केवल परिवार का मुखिया ही करता है जबकि परिवार के शेष सदस्य घर पर इसी व्यवसाय को करते हैं।

बुनकर कम शिक्षित होने के कारण तथा व्यवसाय वंशागत होने के कारण इस व्यवसाय को करते हैं अन्यथा उनकी रुचि इस व्यवसाय में नहीं हैं। आयु संरचना इस तथ्य को सिद्ध करती है [सारणी संख्या—४] कि युवा पीढ़ी परम्परागत व्यवसाय से विमुख हो रही है। जिसका मुख्य कारण आय अत्यन्त कम होना तथा व्यवसाय से सम्बिन्धित अनेक समस्यायें जैसे सरकारी ऋण प्राप्ति की जटिल प्रक्रिया, कच्चे माल की समस्या, विपणन समस्या आदि बुनकर अनुभव करते हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यात्मक विवेचन के प्रकाश में कहा जा सकता है कि अध्ययन क्षेत्र में खादी बुनकरों की पारिवारिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। आवासीय व्यवस्था हानिकारक एवं रोगजन्य है, शैक्षिक स्तर निम्न है तथा निम्न औसत आय के कारण अधिकांश बुनकर अपने इस वंशागत व्यवसाय से विमुख होकर अन्य व्यवसायों की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। सरकारी कार्यक्रम एवं प्रोत्साहनों द्वारा व्यवसाय तथा व्यवसायियों का समुचित विकास अपेक्षित रूप में नहीं हो रहा है।

आभार

अन्त में, मैं अपने शोध निदेशक डा० जे० एस० राठौर, अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग गुलाब सिंह हिन्दू महाविद्यालय चान्दपुर [बिजनौर] के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिनके मार्गदर्शन एवं प्रेरणा से प्रस्तुत लेख प्रकाशनार्थ तैयार हो सका है।

सारणी संख्या – १
परिवार के मुखिया का शैक्षिक स्तर

क्रम संख्या	शैक्षिक स्तर	संख्या	प्रतिशत
१	अशिक्षित	१२	२४
२	केवल उर्दू	८	१६
३	प्राथमिक	१०	२०
४	जूनियर हाईस्कूल	१०	२०
५	हाईस्कूल	८	१६
६	इण्टरमीडिएट	२	४
	योग	५०	१००

सारणी संख्या – २
विभिन्न आयु समूह में शिक्षा का वितरण

क्रम संख्या	सदस्य	आयु समूह	सदस्य संख्या	शिक्षित संख्या	प्रतिशत
१	बालक	५ से १८ वर्ष	३८	२९	७६.३
२	बालिकाएं	५ से १८ वर्ष	२०	६	३०
३	पुरुष	१८ वर्ष से अधिक	१०२	५७	५६
४	महिलायें	१८ वर्ष से अधिक	७५	६	८
		योग	२३५	९८	—

शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत = ४१.७

सारणी संख्या – ३
बुनकरों की आवासीय स्थिति

कमरों की संख्या	परिवारों की संख्या	प्रतिशत
१	१८	३६
२	२२	४४
३	७	१४
४	२	४
५	१	२
योग	५०	१००

सारणी संख्या – ४
बुनकरों की आयु संरचना

आयु समूह [वर्ष में]	बुनकर संख्या	प्रतिशत
– २० तक	—	—
२१ से ३० तक	७	१४
३१ से ४० तक	११	२२
४१ से ५० तक	१६	३२
५१ से ६० तक	१३	२६
६० से ऊपर	३	६
योग	५०	१००

सारणी संख्या – ५

बुनकरों की पारिवारिक मासिक आय

क्रम संख्या	[आय वर्ग रुपयों में]	संख्या	प्रतिशत
१	१ से १००	२०	४०
२	१०१ से २००	८	१५
३	२०१ से ३००	१०	२०
४	३०१ से ४००	५	१०
५	४०१ से ५००	४	८
६	५०१ से ६००	१	२
७	६०१ से ७००	१	२
८	७०१ से ८००	—	--
९	८०१ से ९००	—	—
१०	९०१ से १०००	१	२
	योग	५०	१००

सारणी संख्या – ६

बुनकरों के विभिन्न व्यवसाय

क्रम संख्या	व्यवसाय	संख्या	प्रतिशत
१	खादी बुनना	४२	८४
२	दुकान करना	३	६
३	नौकरी करना	१	२
४	मजदूरी करना	३	६
५	अन्य व्यवसाय	१	२
	योग	५०	१००

जन साक्षरता अभियान की अवधारणा एवं महत्व

मन्जु शुक्ल

अनौपचारिक शिक्षा एवं मानव संसाधन विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत लक्ष्य समूह से संबंधित क्षेत्रों के व्यक्तियों से ही नेतृत्व प्राप्त करने, संसाधन जुटाने और प्रतिभाओं का उपयोग कर उनका लाभ समुदाय को दिलाने की चेष्टा की जाती है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन प्रमुखतः अनौपचारिक शिक्षा का कार्यक्रम है जो प्रौढ़ों की आर्थिक-सामाजिक शैक्षिक एवं पारिवारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनकी अभिरुचियों के आधार पर तैयार किया जाता है जैसे कि कृषक, मजदूर अथवा शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों की गृहणियों की रुचियों एवं शैक्षिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए क्रियात्मक साक्षरता एवं दक्षता विकास के कार्यक्रम चलाये जाते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के चार दशक बीत जाने पर भी हम विकास कार्यक्रमों में जनता की जो भागीदारी चाहते थे वह सम्भव नहीं हो पा रही है। इसका कारण जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग का निरक्षर होना ही है। अभी तक प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में हमारे अनुभवों और सफलताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि विकास और शिक्षा में एक अर्थपूर्ण संबंध है। सच तो यह है कि शिक्षा विकास का कारण और प्रभाव दोनों ही है। जिन क्षेत्रों में विकास की दर तेज है वहाँ शिक्षा की स्थिति भी बेहतर है। विशेषतः जिन परिवारों में माता-पिता शिक्षित हैं वहाँ देखा गया है कि बच्चों के स्कूल जाने की दर बढ़ जाती है और पढ़ाई बीच में ही छोड़ देने वाले बच्चों के प्रतिशत में कमी आती है। पढ़े-लिखे परिवार का वातावरण सीखने की प्रक्रिया बढ़ाता है।

पढ़ी-लिखी पत्नी होने से बच्चों की मृत्यु दर में कमी आती है।

देखा गया है कि शिक्षित समूह विकास कार्यक्रमों का अधिक लाभ उठा पाते हैं।

आर्थिक-सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों में अपने न्यायिक एवं सामाजिक अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ती है।

मन्जु शुक्ल, निदेशक, श्रमिक विद्यापीठ, सिविल लाइन्स कानपुर

छोटे परिवार के प्रति आकर्षण और परिवार नियोजन के तरीके अपनाने की प्रकृति शिक्षा के स्तर से प्रभावित होती है।

महिलाओं का सामाजिक-पारिवारिक स्तर भी शिक्षा के साथ-साथ बढ़ता है। शिक्षित वर्ग में अपने सांस्कृतिक सम्मान की भावना अधिक पाई जाती है। यही कारण है कि सन् १९६५ के शिक्षा मंत्रियों के यूनेस्को सम्मेलन में यह तय किया गया कि शिक्षा व्यक्ति को अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं नागरिक भूमिका समझने का माध्यम है।

इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए प्रधानमंत्री द्वारा राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का शुभारम्भ एक ऐतिहासिक घटना ही है। साक्षरता मिशन का लक्ष्य जन साधारण को अपनी क्षमताओं की पहचान करके सामाजिक-आर्थिक विकास के अवसर प्रदान करना है और जीवन को वैज्ञानिक रूप से अधिक सार्थक बनाने की चेष्टा है न कि लोगों को पढ़ने-लिखने भर की योग्यता प्रदान करना। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लक्ष्यों में सन् १९९५ तक ८० करोड़ निरक्षर लोगों को साक्षर बनाने की योजना है जिसमें ३० करोड़ लोगों को १९९० तक और ५० करोड़ को १९९५ तक साक्षर बनाना है। साक्षरता मिशन के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सभी सरकारी कल्याण योजनाओं, स्वैच्छिक संस्थाओं, मजदूर संगठनों का भी सहयोग अपेक्षित है। जन साक्षरता मिशन जीवनोपयोगी कार्यात्मिक साक्षरता पर बल देता है। जीवनोपयोगी शिक्षा का महत्व जितना एक कृषक अथवा गृहणी के लिए है उतना ही कल-कारखानों में काम करने वाले अदक्ष मजदूरों, असंगठित क्षेत्र के मजदूरों और उनके परिवारों के लिए भी। एक पढ़ा-लिखा मजदूर आधुनिक तकनीक की जानकारी प्राप्तकर अपनी क्षमता का पूरा लाभ देश के औद्योगिक विकास हेतु दे सकता है। इसी प्रकार एक सुखी स्वस्थ किसान या मजदूर ही अपनी दक्षता का पूरा लाभ कृषि या औद्योगिक क्षेत्र में दे सकता है। अतः सभी कल्याण कार्यक्रमों और मानव संसाधन विकास योजनाओं को जन-साक्षरता आन्दोलन से एकीकृत करने की बात है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पिछले चालीस वर्षों में जनसंख्या वृद्धि की दर बहुत तीव्र रही है। सन् १९८१ की गणना के अनुसार भारत में अभी भी दो तिहाई लोग निरक्षर हैं। इन निरक्षरों में ४७ प्रतिशत पुरुष और २५ प्रतिशत महिलायें हैं अतः कहा जा सकता है कि निरक्षर महिलाओं की संख्या पुरुषों से करीब दुगुनी है। विकास कार्यक्रमों में अधिकांश वर्ग की भागीदारी हेतु उनका साक्षर होना अत्यंत आवश्यक है। अतः जन साक्षरता अभियान के व्यापक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए 'हरेक एक को पढ़ाये' का लक्ष्य रखा गया है। इस मिशन में सभी की भागीदारी को देखते हुए शिक्षार्थियों एवं अन्य कार्यों में लगे हुए नवयुवकों को विशेषरूप से जन-शिक्षा एवं कार्यात्मक साक्षरता आन्दोलन में शामिल करने की बात है।

इन्हीं व्यापक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु 'हरेक एक को पढ़ाये' योजना के लिए विशिष्ठ प्रशिक्षण आयोजित किये जाते हैं जिनमें इसके अन्तर्गत लक्ष्य समूह की शैक्षिक आवश्यकताओं को देखते हुए उन्हीं की सुविधानुसार समय एवं स्थान का ध्यान रखते हुए १५० घण्टे में विशेषरूप से तैयार की गई पठन-पाठन सामग्री द्वारा लक्ष्य समूहों को पढ़ाए जाने की प्रक्रिया

का प्रशिक्षण दिया जाता है। हरेक पढ़ाए एक योजना के प्रतिभागियों के साक्षरता स्तर का आकलन निम्न प्रकार से किया जाता है :

सफल लक्ष्य समूह का साक्षरता स्तर :

पढ़ना

प्रथम स्तर—अक्षर ज्ञान, सभी स्वर एवं व्यंजनों को पढ़ाना।

द्वितीय स्तर—साधारण वाक्यों को सही उच्चारण के साथ पढ़ना।

तृतीय स्तर—समझ कर सही अर्थ के साथ पढ़ना, मार्ग के चिन्हों, पोस्टर्स, प्रतीकों और नारों इत्यादि को पढ़ना।

लिखना

प्रथम स्तर—अपना नाम लिखना, परिवार के सदस्यों के नाम एवं पते लिखना।

द्वितीय स्तर—छोटे-छोटे वाक्यों को मिलाकर ३-४ अक्षरों के शब्दों से वाक्य बनाना एवं गद्य-पद्य पढ़ना।

गणित

प्रथम स्तर—१ से १०० तक की गिनती एवं १०० से १००० तक की संख्याओं की गुणात्मक संख्या।

द्वितीय स्तर—सरल जोड़, घटाना, गुणा, भाग (दो संख्याओं तक)।

पढ़ना

यदि प्रतिभागी साधारण वाक्यों को पढ़ न सके तो निम्न श्रेणी।

यदि प्रतिभागी सभी स्वर/व्यंजनों को पहचानता हो और साधारण वाक्यों को पढ़ सके तो सामान्य श्रेणी।

यदि प्रतिभागी आसानी से गद्य पढ़ सके एवं पद्य चिन्हों को पहचान ले, नारों और विज्ञापनों को पढ़ सके तो उत्तम श्रेणी।

लिखना

यदि प्रतिभागी अपना एवं परिवार के सदस्यों का नाम न लिख सके तो निम्न श्रेणी।

यदि अपना एवं परिवार के सदस्यों का नाम लिख सके तो मध्यम श्रेणी।

यदि आसान गद्यांश लिख सके तो उत्तम श्रेणी।

गणित

यदि १०० तक गिनती एवं उनका वर्ग न पहचान सके तो निम्न श्रेणी।

यदि १ से १०० तक और १००० तक गिनती लिख सके और उनका वर्ग जान ले तो मध्यम श्रेणी।

यदि साधारण जोड़, घटाना, गुणा, भाग कर सके तो उत्तम श्रेणी।

इस प्रकार मूल्यांकन करने पर पढ़ने/लिखने और गणित में दो तिहाई से कम अंक पाने वाले निम्न श्रेणी, ६० प्रतिशत से ८० प्रतिशत तक अंक पाने वाले उच्च श्रेणी में गिने जायेंगे और एक प्रतिभागी तभी साक्षर माना जायेगा जब वह कम से कम अध्ययन श्रेणी पा ले।

राष्ट्रीय स्तर पर विद्यार्थियों, अध्यापकों, श्रमिक संस्थाओं, ट्रेड यूनियनों का सहयोग अपेक्षित है। इस हेतु इस राष्ट्रीय साक्षरता अभियान में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु सफल स्वयंसेवकों के कार्यों की संचार माध्यमों से सराहना की जानी चाहिए। प्रतिभागियों एवं स्वयंसेवकों की सफलता मूलक कहानियों को भी प्रसारित किया जा सकता है। साक्षरता अभियान हेतु वातावरण और लोगों में चेतना जगाने की आवश्यकता है। इस हेतु वार्ताएँ एवं सेमिनार आयोजित किये जा सकते हैं। समाचार पत्रों, रेडियो टेलीविजन आदि प्रसार माध्यमों का प्रभावी प्रयोग भी इस हेतु किया जाना चाहिए। स्वयंसेवकों को प्रशंसा पत्र भी दिये जा सकते हैं–जैसे तीन से अधिक निरक्षरों को साक्षर बनाने वाले प्रशिक्षक को साक्षर बनाने वाले प्रशिक्षक को 'ए' सर्टिफिकेट, दो निरक्षरों को साक्षर बनाने वाले को 'बी' सर्टिफिकेट एवं एक निरक्षर को साक्षार बनाने वाले को 'सी' सर्टिफिकेट। जनसाक्षरता अभियान पूर्व अनुभवों के आधार पर तैयार की गयी एक ऐसी योजना है जिसमें जीवनोपयोगी शिक्षा के कार्यात्मक पहलू को महत्व दिया गया है। अतः इस हेतु मान संसाधन विकास से संबंधित सभी कल्याण योजनाओं एवं कार्यकर्ताओं को एक जुट होकर भाग लेने की आवश्यकता है।

कोरकू जनजाति पर एक अभिनव अध्ययन

महिपाल भूरिया

विंध्याचल पर्वत के कोरकू : लेखक—प्रो० स्टीवन फुक्स, इण्टर-इण्डिया प्रकाशन, डी-१७, राजा गार्डन, एक्सटेंशन, नई दिल्ली—११० ०१५, १९८८।
पृ० ४४३, रु० ३१५/-

यह भारत तथा विदेशों में भी अच्छी तरह जाना जाता है, कि प्रो० स्टीवन फुक्स ने जनजाति तथा संसार की, दूसरी कई एक संस्कृतियों पर प्रकाश डालने में अपना सार्थक योगदान दिया है। इसी योगदान के फलस्वरूप कई विद्वानों तथा अन्वेषणकर्ताओं को, अपने अध्ययन तथा जनजाति संस्कृति पर अन्वेन्पण हेतु एक नये मार्ग की प्राप्ति हुई है। उनके पूर्ववर्ती प्रो० विलियम श्मिड ने, पश्चिमी जर्मनी के सेन्ट अँगस्टीन शहर में, अंतर्राष्ट्रीय मानवशास्त्र संस्थान की नींव डाली थी। कालांतर में जिसे मानवशास्त्र की आन्थ्रोपोत संस्था के नाम से जाना गया। इसी की एक शाखा, भारत में बम्बई की उपनगरी अंधेरी में, भारतीय सांस्कृतिक संस्थान के नाम से स्थित है, जिसके जन्मदाता तथा वर्तमान निदेशक, प्रो० स्टीवन फुक्स हैं, जो मानवशास्त्र तथा भारत-विद्या के श्रेष्ठ विद्वानों में से एक हैं। एक बड़ी संख्या में भारतीय मानवशास्त्र के विद्वान और भारत-विद्या के विद्वानों ने प्रो० फुक्स के मार्गदर्शन में कार्य किया है। उनकी विद्वत्ता का सम्मान करने हेतु, दो वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों के प्रसिद्ध मानवशास्त्रियों ने एक सम्मान स्वरूप अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित किया जिसका शीर्षक था—'मानवशास्त्र एक ऐतिहासिक विज्ञान है', 'प्रो० फुक्स के सम्मान में निबन्ध-ग्रंथ', जिसका संपादन श्री महिपाल भूरिया द्वारा किया गया है। प्रो० फुक्स ने सदा भारतीय संस्कृति तथा जनजाति पर अपने अध्ययन में, वस्तुगत दृष्टि रखते हुए उसका खाका खींचा है, जिसने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान के साथ-साथ, एक विश्वसनीय विद्वान भी ठहराया है। उन्होंने भारतीय मानवशास्त्र तथा भारत विद्या पर पन्द्रह से अधिक पुस्तकें लिखी हैं, तथा पाँच सौ से अधिक

अन्वेषणात्मक विनिबन्ध लिखे हैं, उनकी कई एक पुस्तकें देश तथा विदेशों के अकादमी स्तर के सन्दर्भ में ठहरती हैं जैसे : 'हरि के बच्चे', 'पूर्वी मंडला के गोंड एवं भूमिया', 'मनुष्य की उत्पत्ति और संस्कृति', 'क्रांतिकारी प्रवर्तक', 'भारतीय जनजातियाँ' तथा 'भारतीय समाज का निम्न वर्ग' आदि। कुछेक पुस्तकों का आवर्तन एक से अधिक बार हुआ है तथा उनका प्रकाशन विदेशों में भी हुआ है। इस वर्ष 'विंध्याचल पर्वत के कोरकू' शीर्षक से, प्रो० फुक्स द्वारा एक और महत्वपूर्ण शोध-ग्रंथ लिखा गया है, जो मानवशास्त्र कार्य के अंतर्गत, एक प्रमुख इण्टर-इंडिया प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुआ है।

'विंध्याचल पर्वत के कोरकू', शोध-ग्रंथ अपने आप में, संसार के प्रकाण्ड विद्वानों के लिए मानवशास्त्र सम्बन्धी खोज के सन्दर्भ में उनके लिए एक रुचिकर, महत्वपूर्ण प्रबंध तथा एक आदर्श सन्दर्भ-ग्रन्थ होगा।

'विंध्याचल पर्वत के कोरकू', चालीस वर्ष के अथक परिश्रम का निष्कर्ष है। यह अध्ययन कोरकू-संसार का वस्तुगत चित्रण तथा एक विस्तृत खोजपूर्ण अध्ययन है, जिसका आधार प्रत्यक्ष दृष्टि तथा अन्य विश्वसनीय सूत्र हैं। यूं तो इस विषय पर, पूर्व से कुछ अन्य पहलू भी विद्यमान हैं, किन्तु ये एक ऐसी प्रथम उपलब्धि है, जो पूर्णतया वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है।

इस शोध-ग्रन्थ का विषय कोरकू जनजाति है, जो मध्य प्रदेश के खंडवा, देवास तथा सीहोर जिले में पाई जाती है। यही वह विस्तृत संगठन है, जिससे प्रेरित होकर, प्रो० फुक्स ने यह विशिष्ट अध्ययन कार्य अपनाया। वर्तमान जनसांख्यिकी के अनुसार पूर्वी मध्यप्रदेश में उनकी संख्या लगभग २,००,००० के आसपास है। एक मानवशास्त्रीय विश्लेषण तथा पूर्व इतिहास एवं संस्कृति के आधार पर, प्रो० फुक्स ने पाया कि कोरकू कुछ विषयों में छोटा नागपुर की मुण्डा जनजाति से भिन्न है।

प्रो० फुक्स के मतानुसार इन दो सौ वर्षों में कोरकू जनजाति का, गतिमान समाज, संस्कृति तथा आर्थिक रूप में रूपान्तरण हुआ है। वे साहसी, क्रूर, डकैत तथा घुड़सवार थे, किन्तु अब शोषित कृषक, खेतिहर श्रमिक, किसान और अन्य व्यावसायिक हो गए हैं। उन्नत साहित्य भी उनको राष्ट्रीय मुख्यधारा में ले तो आया है, परन्तु फिर भी उनकी अपनी एक परम्परागत संस्कृति उनकी रग-रग में समाई हुई है, जो किसी भी सामाजिक अन्वेषणकर्ता से छिपी नहीं रह सकती।

प्रो० फुक्स एक कलात्मक रचयिता हैं। यहां तक कि वे सांस्कृतिक ऐतिहासिक विद्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने सैद्धांतिक ढांचे के समीप पहुंचने के कई अन्वेन्षण किए हैं। उनके प्रकाशन, मानवशास्त्री, समाजशास्त्री और अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों के लिए ऐतिहासिक महत्व के दस्तावेज हैं। संयोगवश उन्होंने स्वतन्त्र तथा रीतिपूर्वक एवं उत्तरदायित्वपूर्वक, परम्परागत विषय वस्तु, का निर्माण किया है। वर्तमान अध्ययन में उन्होंने दिखाया है, कि

कोरकू पूर्वी निमाड़ के विस्तृत समाज के अंग हैं तथा उन्होंने अपने जनजाति सम्बन्धों को पृथक किया हुआ है। इस दृष्टिकोण से इस संदर्भ में, कोरकू एक सैद्धांतिक बहस का मुद्दा भी बन सकते हैं।

इस शोध-ग्रंथ के रचयिता इसके मूलभूत, तीन आंतरिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं: भौतिक संस्कृति, जनजाति का समाजशास्त्र तथा जनजाति का सुप्राकृतिक संसार।

पुस्तक का प्रथम अध्याय कोरकू रहन-सहन, लोक इतिहास, जनजाति सांख्यिकी, कोरकुओं का उप-विभाजन, मानवतारोपी विश्लेषण, जातीय आकर्षण और जनजाति की भाषागत् स्थिति को दर्शाता है। साथ ही यह अध्याय सामान्य पाठक के अध्ययन हेतु एक सरल पाठन बनता है। पुस्तक के प्रथम भाग से आरम्भ होने के पश्चात् छः अध्याय (पृष्ठ ४१-१५८) जो विस्तृतापूर्वक विषय के साथ जैसे—स्वामित्व, वस्त्रादि, आभूषण, भोजन, खेती, अनाज, पशु-पालन और दूसरे कई अन्य व्यवसायों के विषय में है। यह अध्याय एक इच्छात्मक, सूचनात्मक, भौतिक संस्कृति, हस्तरेखांकित तथा स्पष्ट सचित्र बोध है।

जनजाति का समाजशास्त्र, पुस्तक के द्वितीय तथा तृतीय भाग में वर्णित है। द्वितीय भाग के तीन अध्याय हैं (पृष्ठ १६१-२६१) परिवार से मानसिक व्यवहार, रिश्तेदारी के रीति रिवाज, ग्रामीण समुदाय तथा जनजाति संगठन।

तृतीय भाग में भी तीन अध्याय हैं (२१६-३१३) जो पहलुओं को पूर्ण बनाता है, जैसे—जन्म, शैशवकाल, विवाह, मृत्यु एवं अंतिम क्रिया कर्म आदि। लेखक ने इस समाज के साथ, अपने कई वर्षों के व्यक्तिगत संपर्क द्वारा तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा कई महत्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं।

पुस्तक के अंतिम तथा चतुर्थ भाग में, देव-लोक एवं जनजातीय आस्थाएं हैं। प्रो० फुक्स ने दृष्टिपात् किया, कि कोरकू अत्यधिक धार्मिक नहीं होते, वे उच्च सांस्कृतिक हैं तथा हिन्दुत्व उनके सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के कई पहलुओं में व्याप्त है। प्रो० फुक्स ने जनजातियों के जनजाति धर्म और भारतीय जनजातियों की लोक विद्या की धार्मिक गतिविधियों का सम्पूर्ण भारत में खुलकर, विस्तृत रूप में अध्ययन किया है। जनजाति समाज का विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना, अत्यन्त कठिन कार्य है, किन्तु प्रो० फुक्स ने कोरकुओं के धार्मिक, आस्था, देव-लोक तथा रीति-रिवाजों का सूक्ष्म अध्ययन किया है। अपने विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक पार्श्वचित्र में, प्रो० फुक्स ने केवल वास्तविकता की मांग ही नहीं की और न ही, केवल जन-जाति के अध्ययन हेतु उनका अध्ययन किया, अपितु इसलिए किया, कि वे भी अपना एक पृथक पार्श्व तथा स्वयं का आत्मसम्मान लिए हुए लोग हैं। उनकी परानुभूमि स्पष्ट झलकती है, जब वे आदिवासियों की विशिष्ट परम्पराओं पर अपनी अन्तरदृष्टि से प्रकाश डालते हैं। यूरोपीय संस्कृति के समर्थक होते हुए भी वे अपने मूल्यों एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को भारतीयों पर नहीं थोपते। बल्कि एक तटस्थ दृष्टि से अपना अध्ययन करते हैं तथा तथ्यों से निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

उनकी अन्य पुस्तकें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, विशेष कर अंग्रेजी तथा जर्मन भाषीय विश्व-विद्यालयों में सन्दर्भ ग्रन्थ मानी गई हैं। अमुक पुस्तक 'विंध्याचल पर्वत के कोरकू' उनकी परिपक्वता के कारण मानवशास्त्रीय जगत् में बिना शर्त सराहनीय सिद्ध होगी।

प्रो० फुक्स की पुस्तकें 'पूर्वी मंडला के गोंड और भूमिया', 'हरि के बच्चे', एवं 'विंध्याचल पर्वत के कोरकू', मध्य प्रदेश की जनजातीय संस्कृतियों के अध्ययन की शृंखला में अभूतपूर्व संदर्भ ग्रंथ हैं। मध्यप्रदेश शासन ने अब तक, इन ग्रंथों को हिन्दी में उपलब्ध नहीं कराया है, जिसे आज सारा विश्व सराह रहा है। क्या म०प्र० शासन अपने अनुदित् ग्रंथावलियों की सूची में इन तीन ग्रंथों को स्थान देगा ?

3087 | 3141
3436 3454
3104

वर्ष-१७ ★ अंक-३

जुलाई-सितम्बर

१९८९

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

मानव
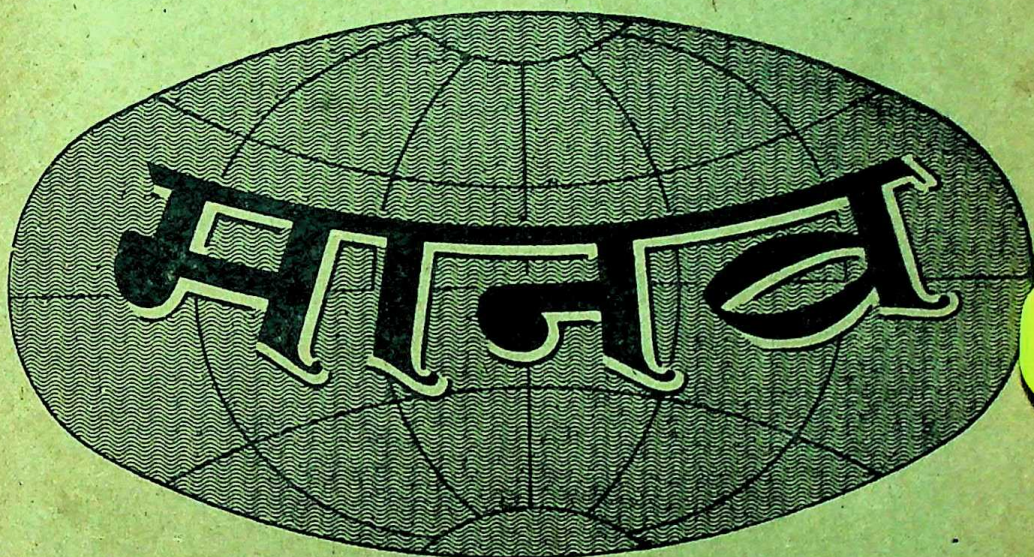
त्रैमासिक

प्रकाशक— एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

सम्पादक— उमाशंकर मिश्र

सह-सम्पादक— डा० रघुराज गुप्त

प्रबंध संपादक— श्री प्रभातकुमार तिवारी

सहायक-सम्पादक— डा० नदीमुल हसनैन
श्री ललित किशोर मिश्र

सम्पादकीय परामर्शदाता— श्री बी० डी० सनवाल
डा० ब्रह्मदेव शर्मा
डा० श्यामा चरण दुबे
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
श्री हरी सहाय सक्सेना
डा० इन्द्र देव
प्रो० अवध किशोर शरण

'मानव' में मानवविज्ञान एवं अन्य सम्बन्धित विषयों पर मूल शोध पत्र, प्रामाणिक मूल लेखों के अनुवाद एवं पुस्तक समीक्षायें आदि प्रकाशित होती हैं।

वार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए स्वदेश में ६० रु०
विदेशों में २० डालर अथवा समकक्ष अन्य विदेशी मुद्रायें
(सोसायटी के सदस्यों को अर्ध शुल्क पर प्राप्य)
वैयक्तिक शुल्क ५० रु०; विद्यार्थियों के लिये विशेष सुविधा—३० रु० वार्षिक

संपर्क सूत्र—
संपादक 'मानव', एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी
पोस्ट बाक्स २०६, ७ ए, रामकृष्ण मार्ग, फैजाबाद रोड, लखनऊ—२२६ ००७

पूनार मुद्रक, लखनऊ में मुद्रित

खनन मजदूरों में कार्य संतोष : एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

वरलक्ष्मी पटेरिया
नीरज कुमार खरे

औद्योगिक संगठन में श्रमिक केन्द्रीय महत्व की भूमिका निर्वहन करते हैं। औद्योगिक प्रगति उनकी कार्यक्षमता, उत्पादकता व मनोबल पर पूरी तरह से निर्भर करती है। श्रमिक न ही एक मशीन की तरह उत्पादन के साधन मात्र है, अपितु कार्य के दौरान निर्मित उनकी सामाजिक अभिवृत्तियों का विशेष महत्व है। इसी संदर्भ में कार्य संतोष एक महत्वपूर्ण पहलू है जो उसके मनोबल[१] और क्षमता को स्पष्ट रूप से प्रभावित करता है।

काय संतोष केवल श्रमिक के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं अपितु औद्योगिक संगठन के क्षमतापूर्वक संचालन के लिए एक अपरिहार्य आवश्यकता है। यह श्रमिक की उन अभिवृत्तियों का परिणाम है जिन्हें वे न केवल अपने कार्य तथा व्यवसाय से संबंधित अनेक कारणों बल्कि पूरे सामान्य जीवन के प्रति भी बनाये रखता है। "कार्य संतोष जीवन के प्रति स्वस्थ और संतुष्टि की भावना के लिए कुछ हद तक उत्तरदायी होता है।"[२] कार्य संतोष कर्मचारी के अपने व्यवसाय, संबंधित कारकों तथा सामान्य रूप से जीवन के प्रति संबंधित अनेक मनोवृत्तियों का परिणाम है।"[३] अतः कार्य संतोष का अभाव केवल आर्थिक या औद्योगिक समस्या नहीं है, वरन यह एक मानवीय और सामाजिक समस्या भी है। कार्य संतोष के अभाव में कर्मचारियों में अधिक अनुपस्थिति की दर[४] तथा कार्य जीवन व स्व के प्रति विरसन या अलगाव देखा जा सकता है।"[५]

प्रस्तुत शोध पत्र हसदेव क्षेत्र के झणराखांड़ कालरी के खनन मजदूरों में कार्य संतोष से संबंधित प्राथमिक तथ्यों पर आधारित गवेषणात्मक अध्ययन है। समस्या का सैद्धांतिक व

डा० वरलक्ष्मी पटेरिया, प्रवक्ता समाजशास्त्र विभाग, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (म०प्र०)
नीरज कुमार खरे, शोधछात्र, समाजशास्त्र, गुरू घासीदास वि० वि०, बिलासपुर (म०प्र०)

व्यावहारिक महत्व है । अत: विषय के चुनाव में दोनों ही कारक प्रभावशाली प्रेरक तत्व हैं। हसदेव क्षेत्र की कोयला खदानें मध्यप्रदेश के दो जिलों सरगुजा एवं शहडोल में स्थित हैं। इसके अन्तर्गत १५ कालरी हैं, जिसमें १६, ४३३ श्रमिक कार्यरत हैं । इनमें से अध्ययन के लिए चुनी गई दक्षिण झणराखांड़ कालरी सरगुजा जिले की मनेन्द्रगढ़ तहसील के अन्तर्गत स्थित है जिसमें १३२८ श्रमिक कार्य करते हैं । इनमें से ३ प्रतिशत अर्थात ४० श्रमिकों का दैव निदर्शन के द्वारा उत्तरदाताओं के रूप में चयन किया गया तथा साक्षात्कार अनुसूची द्वारा तथ्य एकत्र किये गये ।

तालिका क्रमांक १ के आंकड़े इस महत्वपूर्ण तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अधिकांश श्रमिक (६२.५प्रतिशत) कार्य से संतुष्ट हैं । कार्य से असतुष्ट श्रमिकों का प्रतिशत अपेक्षाकृत न्यून (३७.५) है।

आंकड़ों के विश्लेषण से यह रोचक तथ्य प्रगट होता है कि श्रमिकों को मिलने वाला वेतन और कार्य संतोष में सहसंबंध है । निश्चित रूप से आर्थिक कारक कार्य संतोष के निर्धारण में प्राथमिक कारक पाया गया । ६२.५ प्रतिशत श्रमिक मिलने वाले वेतन से संतुष्ट हैं इसलिए उनमें कार्य संतोष है । सबसे अधिक वे श्रमिक हैं जिन्हें १५०१ रुपये से २,००० रुपये तक वेतन मिलता है । जिनका प्रतिशत ५६ % है । दूसरे वेतन समूह में वे श्रमिक आते हैं जिनको १,००० रुपये से १,५०० रुपये वेतन मिल रहा है। जिनका प्रतिशत ४० % है । तीसरे क्रम में वे श्रमिक आते हैं जिन्हें मासिक वेतन २,००१ रुपये से २,५०० रुपये तक मिलता है जिसका प्रतिशत ४ % है ।

यद्यपि कुछ प्रमाण यह दर्शाते हैं कि कर्मचारियों की बढ़ती हुई आयु के साथ कार्य संतोष में वृद्धि होती है ।[६] कार्य की प्रकृति और कार्य संतोष में भी अधिकतर संबंध देखा गया है।[७] परन्तु प्रस्तुत अध्ययन में कार्य संतोष को प्रभावित करने वाले कारकों में आयु समूह, शिक्षा, वैवाहिक स्थिति, अन्य व्यवसाय, कार्य की प्रकृति, कार्य अनुभव और परिवार के आकार में कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं पाया गया । भावी अनुसंधानों की दृष्टि से यह इस संभावना की ओर इंगित करता है कि खदानों के श्रमिकों पर संभवत: सामान्य उद्योगों के श्रमिकों के अध्ययन से प्राप्त सामान्यीकरण ज्यों के त्यों लागू नहीं होते एवं उनमें संशोधनों की आवश्यकता होगी।

कार्य के प्रति संतोष या असंतोष का निर्धारण करने वाली सुविधाओं और कारकों की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से अनुसूची में कार्य के प्रति सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों को प्रदर्शित करने वाले कुछ प्रश्न थे ।

अपने कार्य से संतुष्ट और असंतुष्ट श्रमिकों द्वारा किये गये कार्य के अनेक पक्षों के मूल्यांकन की तुलना से यह निर्धारित करना संभव है कि कौन से पक्ष संबद्ध श्रमिकों के लिए अर्थपूर्ण हैं और इस प्रकार संतोष या असंतोष को प्रभावित करने वाली सुविधाओं और कारकों

तालिका क्रमांक—१

श्रमिकों में कार्य संतोष

कार्य संतोष	आयु वर्ष में					शिक्षा				वैवाहिक स्थिति	
	१५-२५	२५-३५	३५-४५	४५-५५	५५-६५	अशिक्षित	प्रायमरी	मिडिल	हा० से०	विवाहित	अविवाहित
संतुष्ट	१०	१२	०७	०५	००	०८	०४	०६	०७	२४	०१
	(०.४.०)	(४८.०)	(२८.०)	(२०.०)	(—)	(३२.०)	(१६.०)	(२४.०)	(२८.०)	(९६.०)	(०४.०)
असंतुष्ट	०३	०४	०३	०४	०१	०५	००	०५	०५	१४	०१
	(१९.८८)	(२६.६४)	(१९.८८)	(२६.६४)	(०६.६६)	(३३.३)	(—)	(३३.३)	(३३.३)	(९३.२४)	(०६.६६)

मासिक आय			अन्य व्यवसाय		कार्य की प्रकृति		
१०००–१५००	१५०१–२०००	२००१–२५००	अन्य	कुछ नहीं	शारीरिक	मानसिक	दोनों
१०	१४	०१	०६	१९	२०	०२	०३
(४०. ०)	(५६. ०)	(०४. ०)	(२४. ०)	(७६. ०)	(८०. ०)	(०८. ०)	(१२. ०)
०८	०७	००	०१	१४	१४	०१	००
(५३.२८)	(४६.६२)	(—)	(०६.६६)	(९३.२४)	(९३.२४)	(०६.६६)	(—)

कार्य अनुभव वर्षों में						परिवार का आकार	
१ से ५ वर्ष तक	५ वर्ष एक दिन से १० वर्ष तक	१० वर्ष एक दिन से १५ वर्ष तक	१५ वर्ष एक दिन से २० वर्ष तक	२० वर्ष एक दिन से २५ वर्ष तक	२५ वर्ष एक दिन से ३० वर्ष तक	लघु परिवार	मध्यम परिवार
०५ (२०. ०)	०७ (२८. ०)	०५ (२०. ०)	०४ (१६. ०)	०१ (०४. ०)	०३ (१२. ०)	१५ (६०. ०)	१० (४०. ०)
०७ (४६.६२)	०२ (१३.३२)	०२ (१३.३२)	०२ (१३.३२)	०१ (०६.६६)	०१ (०६.६६)	०८ (५८.८४)	०७ (३८.८६)

तालिका क्रमांक–२

तुलनात्मक रूप में कार्य से संतुष्ट और असंतुष्ट श्रमिकों की कार्य से संबंधित विभिन्न सुविधाओं का मूल्यांकन

मूल्यांकित सुविधाएं→	सुरक्षा	प्रकाश व्यवस्था	स्वच्छता	उपकरण	कार्य वितरण	केन्टीन	हास्पिटल और चिकित्सा	मनोरंजन सुविधाएं	शैक्षणिक सुविधाएं
श्रमिकों का मूल्यांकन :									
कार्य से संतुष्ट श्रमिकों का मूल्यांकन V_1	+०.६८	०.७६	+०.०४	०.६८	०.६८	०.८४	०.८४	+०.८४	०.९२
कार्य से असंतुष्ट श्रमिकों का मूल्यांकन V_2	—०.८६	०.०२	—०.७३	०.२	०.२	०.६	०.६	—०.०६	०.३३
मूल्यांकन में अन्तर $(V_1 - V_2)$	—०.१८	०.७४	—०.६९	०.४८	०.४८	०.२४	०.२४	+०.७८	०.५९

आवास सुविधाएं	यातायात सुविधा	पुस्तकालय	खेलकूद	पीने का पानी	शौचालय
+०.३६	—०.६	—०.७६	+०.२	—०.०४	—०.६
—०.७३	—१.	—०.७३	—०.६	—०.६	—०.७३
—०.३७	—१.६	—१.४९	—०.४	—०.६४	—१.३३

का उनके प्रभाव के आधार पर एक क्रम प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक स्थिति में एक विशेष तत्व के मूल्यांकन को निम्न सूत्र द्वारा निर्धारित किया गया है।

$$V = \frac{(+1)\,a + (0)b + (-1)\,C}{n} = \frac{a - c}{n}$$

जिसमें (a) कार्य स्थिति के एक दिये गये तत्व के बारे में सकारात्मक मूल्यांकन प्रदान करने वाले श्रमिकों की संख्या है।

b उसी के प्रति उदासीन अभिवृत्ति वाले श्रमिकों की संख्या है।

c. उनका नकारात्मक मूल्यांकन करने वालों की संख्या है और–

n. मूल्यांकन प्रदान करने वाले कुल व्यक्तियों की संख्या है।

तालिका में मूल्यांकनों को दो श्रेणियों में दर्शाया गया है : V_1 कार्य से संतुष्ट श्रमिकों द्वारा कार्य के विभिन्न पक्षों का मूल्यांकन है तथा V_2 उन्हीं पक्षों का कार्य से असंतुष्ट श्रमिकों का किया गया मूल्यांकन है। तालिका की निम्नतम अंकरेखा मूल्यांकनों के अन्तर को प्रदर्शित करती है, जो कार्य से संतोष या असंतोष में कार्य स्थिति के तत्वों के महत्व का सूचक है।

तालिका क्रमांक २ सुविधाओं के प्रभाव से परिमाण का अन्तर प्रदर्शित करती है। [मूल्यांकन का अंतर ($V_1 - V_2$) १८ से १.६ है।] तथा साथ ही प्रभाव की प्रकृति में अन्तर भी प्रदर्शित करती है।

तालिका में प्रकाश व्यवस्था, उपकरण, कार्य वितरण, कैंटीन, अस्पताल और चिकित्सा, शैक्षणिक सुविधाओं, यातायात सुविधा, पुस्तकालय, पीने के पानी तथा शौचालय की सुविधाओं के प्रति मूल्यांकन समयौगिक रूप से सकारात्मक है अर्थात संतुष्ट और असंतुष्ट दोनों ही प्रकार के श्रमिकों द्वारा सकारात्मक मूल्य संलग्न किया गया है। अतः ये सुविधाएं कार्य संतोष की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं पायी गईं। अन्य सुविधाओं सुरक्षा, स्वच्छता, मनोरंजन सुविधाओं, आवास सुविधाओं, खेलकूद की सुविधाओं के प्रति विषम यौगिक मूल्यांकन प्राप्त हुआ। अतः ये संतोष के कारण के रूप में महत्वपूर्ण पायी गई हैं। उनके महत्व को परिमाण की दृष्टि से जानने के लिये मूल्यांकनों का अन्तर ($V_1 - V_2$) निम्न क्रम में व्यवस्थित किया गया।

(१) मनोरंजन सुविधाएं	$V_1 - V_2$	=	+ ०.७८
(२) स्वच्छता	$V_1 - V_2$	=	– ०.६६
(३) खेलकूद	$V_1 - V_2$	=	– ०.४
(४) आवास सुविधाएं	$V_1 - V_2$	=	– ०.३७
(५) सुरक्षा	$V_1 - V_2$	=	– ०.१८

मनोरंजन सुविधाएं विभिन्न महत्वपूर्ण सुविधाओं में पहले क्रम के स्थान पर हैं, स्वच्छता दूसरे महत्वपूर्ण स्थान पर, खेलकूद सुविधाएं तीसरे महत्वपूर्ण स्थान पर, आवास सुविधाएं चौथे महत्वपूर्ण स्थान पर हैं। सुरक्षा घटते हुए क्रम में सबसे अन्तिम महत्वपूर्ण सुविधाओं में है।

तालिका क्रमांक—३

तुलनात्मक रूप में कार्य से संतुष्ट असंतुष्ट श्रमिकों की कार्य स्थिति से संबंधित तत्वों का मूल्यांकन

मूल्यांकित तत्व	उबाऊ कार्य	एकरसता उत्पन्न करने वाला कार्य	शारीरिक थकान पैदा करने वाला कार्य	मानसिक थकान उत्पन्न करने वाला कार्य	सुपरवाईज़र से अच्छा बुरा संबंध	व्यवस्थापकों से अच्छा बुरा संबंध	श्रमिक संघ से अच्छा बुरा संबंध
श्रमिकों का मूल्यांकन :							
कार्य से संतुष्ट श्रमिकों का मूल्यांकन V_1	+०.१२	—०.८४	—०.६२	+०.०४	+०.८	+०.४८	०.८८
कार्य से असंतुष्ट श्रमिकों का मूल्यांकन V_2	—०.३३	—०.७३	—०.८६	+०.३३	+०.४६	+०.२	०.६
मूल्यांकनों में अन्तर $(V_1 - V_2)$	—०.२१	—१.५७	—१.७८	+०.३७	+१.२६	+०.६८	+१.४६

तालिका क्रमांक ३ कार्य स्थिति से संबंधित तत्वों के प्रभाव से परिमाण का अन्तर प्रदर्शित करती है। [मूल्यांकन का अन्तर $(V_1 - V_2)$ −०.२१ से १.७८ है] तथा प्रभाव की प्रकृति में अन्तर भी प्रदर्शित करती है।

तालिका में एकरसता उत्पन्न करने वाला कार्य, शारीरिक थकान पैदा करने वाला कार्य, मानसिक थकान उत्पन्न करने वाला कार्य, सुपरवाईजर से अच्छा बुरा संबंध, व्यवस्थापकों से अच्छा बुरा संबंध, श्रमिक संघ से अच्छा बुरा संबंध कार्य स्थिति से संबंधित तत्वों के प्रति मूल्यांकन समयौगिक रूप से सकारात्मक है अर्थात संतुष्ट और असंतुष्ट दोनों ही प्रकार के श्रमिकों द्वारा सकारात्मक मूल्य संलग्न किया गया। अतः कार्य स्थिति से संबंधित ये तत्व कार्य संतोष की दृष्टि से महत्वपूर्ण नही पायी गई। अन्य तत्व उबाऊ कार्य तत्वों के प्रति विषम यौगिक मूल्यांकन प्राप्त हुआ। अतः ये (उबाऊ कार्य) संतोष के तत्व के रूप में महत्वपूर्ण पायी गई है। उनके महत्व को परिमाण की दृष्टि से जानने के लिए मूल्यांकनों का अंतर $(V_1 - V_2)$ दिया गया है।

(१) उबाऊ कार्य $- V_1 - V_2 = -$ ०.२१

विभिन्न कार्य स्थिति से संबंधित तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व कार्य का उबाऊ होना है।

किसी भी उद्योग में प्रोत्साहनों का बहुत अधिक महत्व है। कोई भी उद्योग तभी सफल हो सकता है जब उस उद्योग में कार्यरत श्रमिक अथवा कर्मचारी मन लगाकर अधिक से अधिक कार्य करें। औद्योगिक श्रमिकों की कार्य करने की इच्छा विभिन्न प्रोत्साहनों द्वारा बढ़ायी जा सकती है। परन्तु इन प्रोत्साहनों का प्रभाव भिन्न-भिन्न समूहों पर अलग-अलग पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह श्रमिकों की आंतरिक आवश्यकताओं पर निर्भर करता है।[८]

प्रस्तुत अनुसंधान के उत्तरदाताओं को अनेक प्रोत्साहनों को सापेक्षिक महत्व के क्रम में व्यवस्थित करने के लिए कहा गया था। इस प्रकार प्रत्येक प्रोत्साहन को उत्तरदाताओं ने अलग अलग रैंक प्रदान किये थे जिनके आधार पर प्रत्येक प्रोत्साहन के लिए औसत या माध्य रैंक की गणना की गई तथा उन्हें तालिका क्रमांक ४ में अधिकतम माध्य स्कोर से निम्नतम माध्य स्कोर तक घटते हुए क्रम में प्रदर्शित किया गया है। जो घटते हुए क्रम में इन प्रोत्साहनों को उत्तरदाताओं द्वारा दिये जाने वाले महत्व का सूचक है।

प्रोत्साहनों के क्रम में उत्तरदाताओं ने वेतन वृद्धि को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। भले ही अस्थाई हो परन्तु तुलनात्मक तथ्य यह बतलाते हैं कि वेतन या बोनस की वृद्धि का प्रायः सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।[९] बिसिन्डेन तथा फ्रेंकल ने कर्मचारियों के नौकरी छोड़ने के कारणों पर एक अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि वेतन की कमी ही कर्मचारियों

को नौकरी छोड़ने के लिए विवश करती है।[10] वेतन वृद्धि के बाद क्रमशः पदोन्नति, अधिक बोनस, पुरस्कार मिलने पर प्रोत्साहित होते हैं। डोनाल्ड ने कार्य सम्पादन में कार्य संतोष एवं सामाजिक पुरस्कारों के संबंध का वर्णन किया है।[11] इसके बाद उत्तरदाता कार्य स्थल की व्यवस्था में सुधार, अधिकारियों से महत्व स्वीकार किया जाना, बाहरी सुविधाओं में सुधार, श्रमिक संघ की मांगे स्वीकृत होने पर प्रोत्साहित होते हैं।

तालिका क्रमांक ४

प्रोत्साहन और कार्य संतोष

महत्व क्रमांक	प्रोत्साहन	माध्य रैंक
(१)	वेतन वृद्धि	३५.२४
(२)	पदोन्नति	३३.०५
(३)	अधिक बोनस	२८.००
(४)	पुरस्कार	२३.१२
(५)	कार्य स्थल की व्यवस्था में सुधार	२१.३७
(६)	अधिकारियों से महत्व स्वीकार किया जाना	१४.६२
(७)	बाहरी सुविधाओं में सुधार	११.८७
(८)	श्रमिक संघ की मांगे स्वीकृत होने पर	१०.६२

चार्ट क्रमांक–१

श्रमिकों में कार्य से संतुष्टि का कारण

क्रमांक	कारण	आवृत्ति
(१)	पर्याप्त वेतन मिलने के कारण	१२
(२)	आवास की सुविधा	७
(३)	व्यवस्थापकों से अच्छा संबंध होने के कारण	६
(४)	अच्छे पद पर कार्य करने के कारण	५

(५)	पदोन्नति के अवसर	
(६)	स्वास्थ्य सुविधा होने के कारण	
(७)	अच्छी सुविधा होने के कारण	४
(८)	बेरोजगारी अधिक होने के कारण	
(९)	काम में परेशानी नहीं होने के कारण	३
(१०)	सुरक्षा की सुविधा होने के कारण	
(११)	रुचि के अनुसार काम मिलने के कारण	२
(१२)	अच्छे अधिकारी होने के कारण	
(१३)	खदान में प्रतिष्ठा होने के कारण	
(१४)	समय में वेतन मिलने के कारण	
(१५)	काम के अनुसार वेतन मिलने के कारण	
(१६)	बहुत दिनों से खदान में काम करने के कारण	
(१७)	अशिक्षित होने के कारण	१
(१८)	बोनस मिलने के कारण	
(१९)	पानी की सुविधा होने के कारण	
(२०)	सभी सुविधा मिलने के कारण	

खनन श्रमिकों में कार्य संतोष के कारणों से संबंधित उत्तरदाताओं के प्रति उत्तरों को चार्ट क्रमांक—१ में प्रस्तुत किया गया है, जिनका विश्लेषण निम्नलिखित तथ्यों की पुष्टि करता है। श्रमिकों में कार्य से संतुष्टि का कारण मुख्य रूप से आर्थिक है : यथा पर्याप्त वेतन का मिलना। वास्तव में आर्थिक कारक कार्य संतोष को प्रभावित करने के लिए निर्धारक तत्व है। खनन उद्योग में श्रमिकों को मिलने वाला न्यूनतम वेतन १३०४ रुपये है।[१२] दूसरा महत्वपूर्ण कारक व्यवस्थापकों से अच्छा संबंध होने को मानते हैं। निश्चित रूप से औद्योगिक संगठन का सामाजिक—मनोवैज्ञानिक वातावरण जो मुख्य रूप से मानवीय संबंधों पर आधारित है जिसका सकारात्मक प्रभाव कार्य संतोष को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करना है। पदोन्नति के अवसर और अच्छे पद पर कार्य करने, कार्य संबंधी उपयुक्त सुविधाओं को भी कार्य संतोष के लिए उत्तरदायी मानते हैं।

चार्ट क्रमांक—२

श्रमिकों में असंतुष्टता का कारण

क्रमांक	कारण	आवृत्ति
(१)	खदान में खतरा बहुत अधिक है ।	७
(२)	सुरक्षा की व्यवस्था ठीक नहीं है ।	६
(३)	आवास की सुविधा प्राप्त नहीं है।	
(४)	मेहनत के अनुसार पैसा नहीं मिलता	४
(५)	वेतन कम मिलता है और मंहगाई अधिक है ।	
(६)	शारीरिक कष्ट	३
(७)	रुचि के अनुसार काम नहीं मिला है ।	
(८)	पदोन्नति के अवसर नहीं ।	२
(९)	चिकित्सालय में सही दवाइयों का न मिलना	
(१०)	अच्छे पद में काम न मिलने के कारण ।	
(११)	अधिकारियों के तानाशाही के कारण	
(१२)	कार्य वितरण में अव्यवस्था होने के कारण	
(१३)	पीने का पानी की सुविधा नहीं होने के कारण	१
(१४)	कार्य उबाऊ होने के कारण	
(१५)	मनोरंजन की सुविधा अच्छी नहीं होने के कारण	
(१६)	सभी सुविधा उपलब्ध नहीं ।	

जिन श्रमिकों में कार्य से असंतुष्टि है उन श्रमिकों ने असंतोष के कारणों पर भी अपनी अभिवृत्तियां प्रगट की हैं । असंतोष के मुख्य कारण खनन कार्य की प्रकृति का जोखिम भरा होना है जिसके कारण श्रमिक हर समय असुरक्षा का अनुभव करते हैं जिसके कारण वे कार्य से संतुष्ट नहीं हैं । इसके साथ ही कार्य की प्रकृति को देखते हुए खदानों में सुरक्षा की उचित व्यवस्था होनी चाहिये किन्तु यह एक असंतोषजनक स्थिति पायी गई कि श्रमिकों को सुरक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था का अभाव है जो कि अपने आप में इस औद्योगिक संगठन के लिए गंभीर समस्या है । इस ओर व्यवस्थापक वर्ग का ध्यान जाना आवश्यक है ऐसी श्रमिकों की राय है ।

खनन मजदूरों में कार्य संतोष से संबंधित प्रस्तुत अध्ययन कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की पुष्टि करता है, यद्यपि श्रमिकों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, इस कारण सामान्यीकरण की अपनी कुछ सीमाएं हैं तथापि आंकड़ों के विश्लेषण से महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हुए, जिन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है। यह एक महत्वपूर्ण और रोचक तथ्य है कि अधिकांश प्रतिशत श्रमिकों में कार्य संतोष पाया गया। असंतुष्ट श्रमिकों का प्रतिशत अपेक्षाकृत न्यून है। कार्य संतोष के निर्धारण में श्रमिकों ने आर्थिक कारक को प्राथमिकता दी। श्रमिक मिलने वाले वेतन से संतुष्ट हैं, खनन उद्योग में श्रमिकों को मिलने वाला न्यूनतम वेतन १३०४ रुपये है इस कारण उनमें कार्य से संतोष पाया गया। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि खनन श्रमिकों में कार्य संतोष को प्रभावित करने वाला निर्धारक तत्व मुख्य रूप से आर्थिक है। इसके साथ ही दूसरा महत्वपूर्ण कारक व्यवस्थापकों से अच्छा संबंध होने को मानते हैं। निश्चित रूप से कार्य के दौरान मानवीय संबंधों का सकारात्मक होना कार्य संतोष को बढ़ावा देता है।

जिन श्रमिकों में कार्य के प्रति असंतोष पाया गया उसका मुख्य कारण कार्य की प्रकृति का जोखिम पूर्ण होना है जिसके कारण उनमें असुरक्षा की भावना अधिक है जो उनके कार्य के संतोष को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है। सुरक्षा की पर्याप्त व्यवस्था, श्रमिकों के कार्य असंतोष की समस्या निश्चित रूप से कम कर सकती है अतः व्यवस्थापक वर्ग को सुरक्षा संबंधी मानदण्डों में सुधार की आवश्यकता है।

दक्षिण झगराखांड़ कालरी में प्राप्त मनोरंजन सुविधाओं स्वच्छता, खेलकूद, आवास सुविधाओं और सुरक्षा की सुविधाओं से श्रमिक घटते हुए क्रम में संतुष्ट थे। कार्य के नकारात्मक पक्षों में श्रमिकों द्वारा कार्य को उबाऊ वर्णित किया गया, जिसका कारण संभवतः सामान्य कार्य के घण्टों के दौरान धीमी गति से किया जाने वाला कार्य है। अधिक से अधिक औवर टाईम प्राप्त करने की आकांक्षा से सामान्य कार्य के घण्टों में कार्य की गति धीमी हो जाती है जो ऊब उत्पन्न करती है।

प्रोत्साहनों के क्रम में वेतन वृद्धि को उत्तरदाताओं ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। वेतन वृद्धि के बाद वे क्रमशः पदोन्नति अधिक बोनस, पुरस्कार मिलने पर प्रोत्साहित होते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Hull, Richard L., Arthur Kolsted "Morale on the Job" in Westson Goodwin (ed.)," *Civilian Moral*, Reynal & Hitchcock Inc. New York 1942.
2. Brayfied, R. V. Wells and M. W. Strate. "Interelationship Among Measures of Job Satisfaction and General Satisfaction", *Journal of Applied Psychology*, Vol. XLI (1957) P. 201-5.

3. Blum, M. L. (1949). *Industrial Psychology & It's Social Foundations*, Harper, New York 1949;
M. L. Blum and J. Russ, "A Study of Employee Attitudes towards various Incentives, "*Personel*, Vol. XIX (1942) P. 438-44.

4. Sinha, D. and Singh, P., "Job Satisfaction And Absenteeism", *The Indian Journal of Social Work*, Vol. XXI, No. 4, P. 336, 1961;
Murthy, S. A. S., "Absenteeism In Industry", *Indian Journal of Social Work*, Vol. 14, No. 2, PP. 132-143, 1953.

5. Sharma, B. R., "Company Satisfaction", *Indian Journal of Industrial Relation*, 7 : 2, 1971 ;
Sharma, B. R., "Alienation In Indian Workers", *Indian Journal of Sociology*, 2 : 2, 1971.

6. Hoppoc, R. ,"Age and Job Satisfaction", *Psychological Monographs*, Vol. XLVII, No. 212 (1936).

7. Mores & Nancy, *Satisfaction in the White-Collar Job*, Ann. Arbor. Institute for Social Research, University of Michign, P. 72, 1953 ;
Hoppock, Robert, *Job Satisfaction*, Harper and Brothers, New York; 1935.

8. D. Katz and Likert, R., "A Long--Range Program for the Study of Group Motivation, Group Morale and Group Performance, Paper of Meetings of American Psychological Association, Boston, Sep. 1948;
T. W. Herrell, *Industrial Psychology*, Calcutta, 1964, P. 336.

9. An inquiry into the Result of Wage Increases : *A Summary Report Labour Bureau*, Govt. of India, Ministry of Labour & Employment, 1956, Published in Indian Labour Gazette, Oct. 1959. 6.

10. P. F. Brissenden and Frankel, *Labour Turnover in Industry*, New York, 1922, P. 96-101.

11. Roy, F. Donald. Work Satisfaction and Social Reward In Quota Achievement, American, *Sociological Review*, Vol. 18, No. 18, No. 5, P. 507-514, 1953.

12. As per National Coal Wage agreement—IV vide Circular No. CIL/C-5(B)/531261/703, Coal India Ltd. Dated : 27th July, 1989.

अनुसूचित जाति विधानमण्डलीय अभिजन : सामाजिक विकास एवं आधुनिकीकरण

रवि प्रताप सिंह

किसी भी देश की राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेपण में विधानमण्लीय अभिजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विधानमण्डलीय अभिजन जनतान्त्रिक व्यवस्था में समाज के मुख्य अभिजन होते हैं। ये जनता की आकांक्षाओं और भावनाओं के प्रतिनिधि तथा नागरिक स्वतन्त्रता के संरक्षक होते हैं। इन्हें सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों का शिल्पकार माना जाता है। आधुनिकीकरण को व्यावहारिक रूप देने का श्रेय इन्हीं को रहता है। अतः आधुनिक भारत को समझने के लिए इनके मूल्यों को जानना बहुत आवश्यक है। प्रस्तुत शोध-पत्र में विकास एवं आधुनिकीकरण से सम्बन्धित कुछ मुख्य पक्षों पर उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश के अनुसूचित जाति विधानमण्डलीय अभिजनों के विचारों को जानने का प्रयास किया गया है।

सामाजिक विकास एवं आधुनिकीकरण सामाजिक परिवर्तन की दो यमज प्रक्रियायें हैं। ये दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं अर्थात् विकास के अभाव में आधुनिकीकरण तथा आधुनिकीकरण के अभाव में विकास असम्भव है। आधुनिकीकरण एक जटिल, सम्मिश्र व बहुस्तरीय सम्प्रत्यय है। इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया गया है। सामाजिक परिवर्तन अथवा विकास की प्रक्रिया के रूप में यह कम विकसित या विकासशील देशों द्वारा अधिक विकसित देशों के संरचनात्मक लक्षणों (आर्थिक विशेषीकरण, नगरीकरण, प्रदत्त आधार की समाप्ति, औपचारिक शिक्षा और गतिशीलता में वृद्धि, उच्च विभेदीकृत राजनीतिक संरचना का विकास, जीवन के सभी पहलुओं में राजनीति का विस्तार, परम्परागत अभिजनों के राजनीतिक नियन्त्रण में कमी, राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि, सांस्कृतिक व मूल्य-व्यवस्था में विभेदीकरण तथा संचार में विकास आदि के उपार्जन की प्रक्रिया है। आधुनिकीकरण से अभिप्राय व्यक्ति के ज्ञान एवं पर्यावरण पर उसके बढ़ते हुए नियन्त्रण के कारण समाज के सभी संस्था-

डा० रवि प्रताप सिंह, रिसर्च एसोशियेट, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू वि० वि०, वाराणसी।

गत क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों से है (ब्लैंक : १९६६)। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया को पहले 'सामाजिक परिवर्तन' अथवा 'विकास' शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता रहा। आधुनिकीकरण में सार्वजनिक संस्थाओं और निजी आकांक्षाओं को स्पर्श करने वाली एक विक्षोभकारी प्रत्यक्षवादी भावना निहित है। पर प्रत्यक्षवादी भावना ही पर्याप्त नहीं है, संचार व्यवस्था में क्रान्ति भी आवश्यक है (लर्नर : १९६२ : ४५-४९)।

अभिजनों की धारणा का उल्लेख वर्तमान काल में 'अल्पविकसित देशों की समस्याओं तथा सम्भावनाओं के सम्बन्ध में होने वाली चर्चाओं के सन्दर्भ में सबसे अधिक होता है। सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों तथा अभिजनों के उत्थान और पतन में गहरा सम्बन्ध होता है। आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य प्रकार के परिवर्तन सबसे पहले विभिन्न सामाजिक समूहों की प्रतिष्ठा और शक्ति में फेरबदल करते हैं, तथा अपनी सत्ता बढ़ाने में व्यस्त समूह उस स्थिति में परिवर्तनों की बागडोर सम्भाल कर उन्हें आगे की ओर बढ़ाते हैं। साथ ही उस जनसाधारण को असाधारण नेताओं तथा अभिजनों की आवश्यकता सबसे अधिक महसूस होती है जिसमें जटिल और कठिन सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया चल रही होती है तथा जीवन की प्रचलित प्रणालियाँ गायब हो रही होती हैं। अतः वर्तमान विकासशील देशों में नये अभिजनों का निर्माण करने वाली सामाजिक शक्तियों तथा अपने समाजों को आधुनिक और आर्थिक दृष्टि से गतिशील राष्ट्रों का रूप देने के प्रयास में स्वयं अभिजनों की गतिविधि की छानबीन आवश्यक है (बाटोमोर : १९६६ : ९१); क्योंकि किसी भी समाज के आधुनिकीकरण और राजनीति का निर्धारण तथा निरन्तरता उस समाज के राजनीतिक अभिजनों की विशेषताओं और योग्यताओं से ही होता है।

आधुनिकीकरण के सम्प्रत्यय का प्रयोग आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के पूर्ण रूपान्तरण के लिये किया जाता है। यहाँ तक कि व्यक्ति के आधुनिकीकरण की बात भी कही गयी है। आर्थिक क्षेत्र में इसे औद्योगिक एवं आर्थिक विकास के रूप में देखा गया है। सामाजिक क्षेत्र में यह परिवार, विवाह, धर्म, व्यवसाय आदि के मामलों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अतिरिक्त अवसरों की समानता तथा स्तरीकरण की मुक्त व्यवस्था को महत्व देना है। राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग धर्मनिरपेक्ष एवं कल्याणकारी राज्य की स्थापना के प्रयत्नों के रूप में किया जाता है, जबकि व्यक्ति के स्तर पर इसे व्यक्ति को लौकिक, विश्ववादी, तर्कसंगत, वैज्ञानिक तथा जीवन की समस्याओं के प्रति विशाल एवं व्यापक दृष्टिकोण के रूप में देखा गया है। आधुनिकीकरण में सामाजिक गतिशीलता भी निहित है।

विकास को कुछ लोगों ने सामाजिक परिवर्तन का ही समानार्थक बताया है तथा इसे सीखने की सामान्य योग्यता व प्रक्रिया में अपने निष्पादन में सुधार करना बताया है। इसके विपरीत विकास शब्द का प्रयोग किसी सूक्ष्म रूप से परिभाषित लक्ष्य की ओर प्रगति के लिये भी किया गया है। अतः विकास शब्द से तात्पर्य एक ओर तो व्यापक रूप से अनिश्चित लक्ष्य की ओर प्रगति है तथा दूसरी ओर निर्धारित लक्ष्य प्राप्ति की ओर बढ़ना है।

भारतीय सन्दर्भ में भी उपरोक्त तथ्य महत्वपूर्ण है। जनपृष्ठ भूमि होने के कारण जनसाधारण के लिए विधानमण्डलीय अभिजन महत्वपूर्ण तो है ही (मेनहाइम : १९६६ : १९७); इन्हें सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों का शिल्पकार भी माना जाता है। (पेडिट : १९७८ : १)। आधुनिकीकरण को व्यावहारिक रूप देने का श्रेय इन्हीं को रहता है (आहूजा : १९७५)। समाज के आधुनिकीकरण में इनकी भूमिका को डेविड आप्टर (१९६६ : ४४१-५७) ने दो भागों में बाँटा है। प्रथम विकासवादी व्यवस्थात्मक अभिजन और द्वितीय रक्षावादी व्यवस्थात्मक अभिजन। प्रथम प्रकार के अभिजन समाज का पुर्ननिर्माण करते हैं। समाज में उपलब्ध स्रोतों एवं सामाजिक शक्ति के द्वारा आर्थिक पिछड़ेपन पर प्रहार करते हैं। संस्थाओं और अभिवृत्तियों में परिवर्तन के द्वारा आर्थिक उन्नति में प्रोत्साहन और आधुनिकीकरण में योगदान देते हैं (आहूजा : १९८० : १३०)। नयी संस्थायें बनाते हैं और पुरानी संस्थाओं में परिवर्तन करते हैं ताकि आर्थिक उन्नति में रुकावट न आये। अभिजनों की विकासवादी व्यवस्था का वर्णन आर्थिक उन्नति, वैचारिक समर्पण और नीति के प्रति निष्ठा द्वारा व्यक्त की जा सकती है। अभिजनों का दूसरा समूह 'रक्षावादी व्यवस्थात्मक अभिजन' की समझ 'विकासवादी व्यवस्थात्मक अभिजन' से भिन्न है। यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने पर जितना विश्वास करता है उतना आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के लिये नहीं। इस प्रकार के अभिजन अनेक राजनीतिक और सामाजिक समूहों के बीच समझौते पर विश्वास करते हैं एवं अधिक निष्ठावान, चातुर्य, समझौता करने वाले, दूसरों को ग्रहण करने वाले होते हैं। रक्षावादी व्यवस्था में इन शक्तिशाली अभिजनों का बहुत ही सीमित कार्यक्षेत्र होता है जबकि ये नीतिगत आधार से अनेक विकासवादी सिद्धान्तों से जुड़े होते हैं। डेविड आप्टर के अभिजन वर्गीकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विकासवादी व्यवस्था में अभिजन समाज में संघर्ष करता है और रक्षावादी व्यवस्था में अभिजन समाज में एक कैदी की भूमिका में रहता है। भारत में ज्यादातर राजनीतिक अभिजन रक्षावादी व्यवस्था से सम्बन्धित रहते हैं जबकि कुछ विकासवादी व्यवस्था से सम्बन्धित होने के कारण देश के सामाजिक-आर्थिक संरचना में परिवर्तन एवं आर्थिक नीतियों को लागू करने में असमर्थ रहते हैं। इस प्रकार अभिजन सामान्य परम्परागत व्यवस्था में सामाजिक परिवर्तन एवं आमूल बदलाव हेतु व्यक्तियों में जागरूकता लाने में असमर्थ देखा जाता हैं (आहूजा : १९८० : १३०)।

समग्र एवं निदर्शन

प्रस्तुत शोध-पत्र में सामाजिक मूल्य, विकास एवं आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में अनुसूचित जाति के विधानमण्डलीय अभिजनों की भूमिका को जानने का प्रयास किया गया है। अध्ययन का क्षेत्र उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश को चुना गया। आजादी के संघर्ष और कांग्रेस के इतिहास पर गहरा असर रखने वाले ये प्रदेश आकार की दृष्टि से भारत में क्रमशः चौथे, नवें एवं पहले तथा जनसंख्या के आधार पर क्रमशः देश में पहले, दूसरे एवं छठे स्थान पर

हैं । अपनी गरीबी, अशिक्षा, विपन्नता और सांस्कृतिक बिखराव के होते हुए भी ये प्रदेश अपने विशेष बनाव, चरित्र और उदारता के कारण ऐसी महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का केन्द्र रहे हैं, जो सारे देश के लिये युगान्तरकारी सिद्ध हुए हैं । राष्ट्रीय राजनीति में परिवर्तन की सबसे ज्यादा और गहरी सम्भावना इन प्रदेशों में ही निहित है (सिंधवी : १९७२) ।

सेंसस सर्वे के आधार पर इन तीनों प्रदेशों के विधान मण्डलों (विधानसभा तथा विधान-परिषद) के सभी अनुसूचित जाति विधायकों (१७० विधायकों) को निदर्श के अन्तर्गत रखा गया जिसमें उत्तर प्रदेश विधानसभा से ७९ तथा विधान परिषद से ३ सदस्यों और बिहार के विधानसभा से ५० तथा विधान परिषद से २ सदस्यों को लिया गया । मध्य प्रदेश में एक सदनात्मक विधानमण्डल होने के कारण विधानसभा के ३६ सदस्यों को निदर्शन में शामिल किया गया । समस्या से सम्बद्ध तथ्यों का एकत्रीकरण सर्वथा समाज वैज्ञानिक प्रविधियों-साक्षात्कार-अनुसूची, सहभागी अवलोकन, साक्षात्कार आदि के द्वारा किया गया ।

शोध की उपलब्धियाँ

शोध की उपलब्धियों से ज्ञात हुआ कि अनुसूचित जाति के विधानमण्डलीय अभिजनों में विवाह की मनोवृत्तियों में परिवर्तन हो रहा है । उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश तथा संयुक्त रूप से तीनों प्रदेशों के सर्वाधिक विधानमण्डलीय अभिजन विवाह के समय लड़के-लड़की की आयु में तीन से पाँच वर्ष के अन्तर के पक्ष में हैं । इनमें ज्यादातर अभिजन स्नातक शिक्षा ग्रहण किये हुए हैं । पुत्र-पुत्री के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के सन्दर्भ में इनका मत है कि वे शिक्षित और नौकरी वर्ग, अनुसूचित जाति परिवार के साथ विवाह करने के पक्ष में हैं और पुत्र-पुत्रियों के लिये ऊँची जाति के विवाह अर्थात् अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में हैं । ऐसे अभिजन ज्यादातर कांग्रेस पार्टी से सम्बन्धित हैं । इस अध्ययन की तुलना उत्तर प्रदेश के सप्तम विधानसभा से करने पर लगभग समान निष्कर्ष मिलते हैं । उत्तर प्रदेश के सप्तम विधानमण्डलीय अभिजन के अध्ययन में यह पाया गया कि २७.७८ प्रतिशत विधायकों की दृष्टि में विवाह के समय लड़के और लड़की की आयु में ३ वर्ष या इससे कम का अन्तर होना चाहिये । ३५.१८ प्रतिशत विधायकों के अनुसार यह अन्तर ३ से ५ वर्ष तक, तथा २०.३८ प्रतिशत के अनुसार ५ से ७ वर्ष का होना चाहिये । ९.२५ प्रतिशत तथा ४.४४ प्रतिशत विधायकों की मान्यता थी कि यह अन्तर ७ से ९ वर्ष तथा ९ वर्ष से ज्यादा होना चाहिये (सिंह : १९८३ : ११८) ।

इस अध्ययन में ज्यादातर अनुसूचित जाति के विधानमण्डलीय अभिजनों ने यह मत व्यक्त किया कि अनुसूचित जातियों में दहेज को फैशन के रूप में बढ़ावा दिया जा रहा है । तलाक, अलगाव एवं संयुक्त परिवार को भी ये समर्थन देते हैं । इसके विपरीत बिहार के तृतीय विधानसभा के एक अध्ययन में शशि शेखर झा (१९७२ : २१४-२१५) ने पाया कि ८०.० प्रतिशत विधायक तलाक के विरुद्ध थे । शेष २०.० प्रतिशत तलाक के समर्थक थे,

परन्तु इनका कहना था कि आदर्शात्मक रूप से तलाक ठीक नहीं है, जहाँ तक हो सके इससे बचना चाहिए। यह तभी होना चाहिए जबकि पति-पत्नी में सामंजस्य पूर्णतया भंग हो जाय। बिहार के विधायकों एवं सांसदों के एक अन्य अध्ययन में राम आहूजा ने तलाक विषय पर २५० के निदर्शन में संख्या में ६१ के विचार आधुनिक, ४७ के परम्परागत तथा १४२ के आधुनिक एवं परम्परागत के बीच का पाया (आहूजा : १९७५ : १०६)। उत्तर प्रदेश के सप्तम विधान मण्डलीय अभिजन के अध्ययन में यह पाया गया कि अनुसूचित जातियों के ९६.६७ प्रतिशत विधायक तलाक को आवश्यक मानते थे। शेष सभी इसके विरुद्ध थे (सिंह : १९८३ : १२०)।

वर्तमान अध्ययन में विधवा पुनर्विवाह को ज्यादातर अनुसूचित जाति के विधायक मान्यता नहीं देते हैं जबकि उत्तर प्रदेश के सप्तम विधानमण्डलीय अभिजनों के अध्ययन में ८६.० प्रतिशत विधायक विधवा पुनर्विवाह को आवश्यक समझते थे। केवल १४.० प्रतिशत इसे प्रोत्साहन देने के पक्ष में नहीं थे। बिहार तृतीय विधान सभा के अध्ययन में शशि शेखर झा ने भी पाया कि ७८.० प्रतिशत विधायक विधवा पुनर्विवाह को आवश्यक समझते थे। २२.० प्रतिशत का कहना था कि विधवाओं का विवाह तभी होना चाहिए जब वे इसके लिए बहुत उत्सुक हों या वे जवान हों (झा : १९७१ : २०९)।

शोध की उपलब्धियों से यह भी ज्ञात हुआ कि भारतीय सन्दर्भ में परिवार नियोजन को ७१.१८ प्रतिशत पूर्ण मान्यता प्रदान करते हैं। ५४.१२ प्रतिशत नारी स्वतन्त्रता के पक्ष में हैं। उत्तर प्रदेश प्रदेश के सातवीं विधानसभा के अध्ययन में भी ज्यादातर विधानमण्डलीय अभिजन परिवार नियोजन को अपनाने के पक्ष में थे। ८०.७४ प्रतिशत इसे धर्म विरुद्ध तो नहीं मानते थे लेकिन इसकी अनिवार्यता और बलपूर्वक क्रियान्वयन के वे विरुद्ध थे। नारी स्वतन्त्रता के विषय में प्रदेश के ७२.५० प्रतिशत विधायक नारी को पुरुषों के समान अधिकार, उसके नये मूल्यों के रचना की मांग और मुक्ति आन्दोलन को सर्वथा अनुचित मानते थे (सिंह : १९८३ : १२९-१९४)। बिहार के तृतीय विधानसभा के अध्ययन में ६७.५ प्रतिशत विधायक नारी के "निर्देशित" स्वतन्त्रता के पक्ष में थे। इनका कहना था कि नारी को अपने व्यवहार प्रतिमानों में आधुनिक एवं पश्चिमीकृत होना चाहिए, परन्तु उन्हें भारतीय नारी की परम्परा और मर्यादा का भी ध्यान रखना चाहिए। ३१.० प्रतिशत विधायक नारी को पुरुष के समान स्वतन्त्रता देने के पक्ष में थे तथा १.५ प्रतिशत नारी स्वतन्त्रता के पूर्णतया विरोध में थे (झा : १९७२ : २०८)।

जहाँ तक अहिंसात्मक समाज के निर्माण में नेतृत्व की भूमिका क्या होगी, इस विषय पर अनुसूचित जाति के ज्यादातर विधान मण्डलीय अभिजन नेतृत्व की भूमिका को सहयोगात्मक मानते हैं लेकिन निकट भविष्य में इसके निर्माण की सम्भावना से वे इन्कार करते हैं। भारत, नेपाल एवं श्रीलंका के अभिजनों के अध्ययन में उणिथ्यान एवं योगेन्द्र सिंह (१९६९ : ८३) ने भी पाया कि ६५.७ प्रतिशत अभिजन अहिंसात्मक समाज के निर्माण में

नेतृत्व की भूमिका को सहयोगात्मक मानते थे। उत्तर प्रदेश के सप्तम विधान मण्डलीय अभिजनों के अध्ययन में ५८.८६ प्रतिशत विधायकों का कहना था कि अहिंसात्मक समाज के निर्माण में नेतृत्व की भूमिका सहयोगात्मक होगी। ७.४० प्रतिशत असहयोगात्मक तथा ३०.३७ प्रतिशत विधायकों ने अपना कोई उत्तर नहीं दिया था (सिंह : १९८३ : १४८)।

भारतीय जनता के प्रति अनुसूचित जाति के अभिजनों की धारणा है कि वह पूर्णसजग है। आधुनिक भारतीय परिवर्तन के सन्दर्भ में ३८.२४ प्रतिशत का मत है कि भारतीय परिवर्तन अच्छा लेकिन मन्द गति से हो रहा है। ३४.११ प्रतिशत की धारणा है कि भारतीय परिवर्तन अच्छा लेकिन तीव्र गति से हो रहा है। २७.६५ प्रतिशत अभिजनों की दृष्टि में यह परिवर्तन दोषपूर्ण हैं। परिवर्तन की दिशा क्या हो, इस सम्बन्ध में ४५.८८ प्रतिशत का कहना है कि परिवर्तन की दिशा भारतीयता की तरफ होनी चाहिये। मिश्रित आधुनिकता की तरफ मत व्यक्त करने वाले अभिजनों का प्रतिशत ३२.३६ प्रतिशत रहा। अधिकांश का यह भी मत है कि अनुसूचित जातियों के लिये सरकार ने जो कुछ किया है उसके लिये उन्हें सरकार का ऋणी होना चाहिये। हरिजनों के उत्थान और सुधार में जाति व्यवस्था का उन्मूलन लाभप्रद है। जनतान्त्रिक सुविधाओं और वैधानिक विशेषाधिकार अनुसूचित जातियों की आर्थिक एवं साँस्कृतिक पृष्ठभूमि में श्रेयस्कर परिवर्तन लाने में प्रभावशाली हैं लेकिन जन्मगत विशेषाधिकार और विरासत के आधार पर व्यक्तियों में ऊँच-नीच का विभेद अब नहीं होना चाहिए।

आंकड़ों से यह भी ज्ञात हुआ कि ज्यादातर अभिजन गरीबों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिये कृषि प्रधान ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पक्ष में हैं तथा विकास कार्यक्रम को चलाने के लिये सरकारी मशीनरी को उपयोगी मानते हैं। अपने उत्थान में बीस सूत्रीय कार्यक्रम को ये बहुत उपयोगी मानते हैं। संवैधानिक सुरक्षा एवं कल्याण के तरीकों को अधिकाधिक समय तक लागू करने के पक्ष में भी हैं। ५६.४७ प्रतिशत अनुसूचित जातियों के विकास में "अनुसूचित जाति की अज्ञानता" को बाधक कारक के रूप में स्वीकार करते हैं। भारत के विकास के लिए ग्रामों के विकास तथा उद्योग-धन्धों को प्राथमिकता देने के पक्ष में ७४.७१ प्रतिशत अभिजन हैं। ग्राम विकास एवं क्षेत्र समितियों का वास्तविक महत्व ७६.४७ प्रतिशत स्वीकार करते हैं, भारत के त्वरित विकास के लिये बड़े पैमाने के औद्योगीकरण को प्रधानता देने के विरुद्ध ७३.५३ प्रतिशत हैं।

उपरोक्त की तुलना उत्तर प्रदेश के सप्तम विधानमण्डलीय अभिजनों से करने पर ज्ञात होता है कि ग्राम विकास तथा छोटे उद्योग-धन्धों को प्राथमिकता देने के पक्ष में ज्यादातर विधायक थे। बड़े पैमाने के औद्योगीकरण को प्रधानता देने का मत व्यक्त करने वालों की संख्या अत्यन्त नगण्य थी। साक्षात्कार के दौरान विधायकों ने कुछ अति महत्वपूर्ण तथ्यों पर भी प्रकाश डाला। जनता पार्टी के श्रीमान् 'क' की राय थी कि प्रत्येक किसान को चाहिए कि वह अपने परिवार के कम से कम एक व्यक्ति को खेती से हटाकर लघु उद्योगों में लगाये।

जनता पार्टी के ही श्रीमान् 'ख' लोगों को रोजी देने के लिए गांवों में लघु उद्योगों का जाल बिछाये जाने के पक्ष में थे। निर्दलीय श्रीमती 'ग' कृषि और उद्योग में समन्वय के पक्ष में थीं। जबकि कांग्रेस पार्टी के श्रीमान् 'घ' की मान्यता थी आर्थिक विकास के लिए कृषि का आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए तथा बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। कम्युनिस्ट विधायक श्रीमान् 'च' का मत था कि देश से बेरोजगारी को दूर करने के लिए लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रधानता देना जरूरी है। श्रम प्रधान तकनीक को प्रधानता देने के साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि जिस क्षेत्र विशेष में लघु एवं कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया जा रहा है, वहाँ बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादन पर रोक लगायी जाये। जैसे हम विकेन्द्रित क्षेत्र में साबुन के उत्पादन को बढ़ावा देना चाहते हैं तो बड़े उद्योगों द्वारा उसके उत्पादन पर रोक नहीं लगती है तो लघु उद्योग की सफलता बिल्कुल सन्दिग्ध है (सिंह : १९८३ : १३७)।

इस अध्ययन के आंकड़ों से यह भी ज्ञात हुआ कि अधिकांश विधायक ग्राम पंचायतों एवं क्षेत्र समितियों का वास्तविक महत्व स्वीकार करते थे। सामाजिक विकास के बाधक कारकों में विधायकों ने पदाधिकारियों एवं जनता में सम्पर्क के अभाव को प्रधानता दिया तथा कुछ ने प्रशासकों के असहयोगी व्यवहार को और कुछ ने कर्मचारियों की लापरवाही की नीति को विकास का बाधक स्वीकार किया। ज्यादातर की यह भी मान्यता थी कि सामान्य व्यक्ति की समस्याओं के समाधान में जनसेवक रुचि नहीं लेते। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और निर्णय के प्रत्येक स्तर पर जनसेवक अपनी निरंकुश भूमिका अदा कर रहे हैं और देश की वर्तमान समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण की रंचमात्र चेतना स्वयं में नहीं ला पाये हैं (सिंह : १९८३ : १६१)।

उपसंहार

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश के विधान मण्डलीय अभिजन दुविधा की अवस्था से गुजर रहे हैं। सामाजिक विकास के मामलों में कुछ स्तरों पर वे परम्परावादी विचारों से आबद्ध हैं जबकि कुछ बिन्दुओं पर आधुनिकीकरण की ओर ग्राह्यता को दर्शाते हैं। वे यह निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि परम्परा की कौन-सी चीजों को छोड़ा जाय और किस प्रकार आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ समन्वयात्मक दृष्टिकोण विकसित किया जाय। इनका व्यवहार आर्थिक स्वरूप के पिछड़ेपन के कारण राज्य की आर्थिक-सामाजिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में केन्द्रीय सरकार पर अधिक निर्भर करता है, इस कारण विकसित राज्यों के अभिजन और आर्थिक पिछड़ेपन के राज्यों के अभिजनों के व्यवहार में अन्तर आ जाता है। यह लिखने में कोई सन्देह नहीं कि अगर उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश के विधानमण्डलीय अभिजन आधुनिक जनतान्त्रिक मूल्यों की व्यवस्था से आबद्ध नहीं रहेंगे तो राज्यों के आधुनिकीकरण में देर होगी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

आहूजा, राम : पोलिटिकल एलीट्स एण्ड मार्डनाइजेशन : दि बिहार पालिटिक्स, मीनाक्षी प्रकाशन, १९७५।

आहूजा, राम : पोलिटिकल एलीट् : रिक्रूटमेण्ट एण्ड रोल इन माडर्नाइजेशन : इन सच्चिदानन्द एण्ड ए० के० लाल (एडिट्) एलीट् एण्ड डेवलपमेण्ट, कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नयी दिल्ली, १९८०।

आप्टर, डेविड : सिस्टम प्रॉसेस एण्ड द पालिटिक्स ऑफ एकनामिक्स डेवलपमेण्ट इन जे० एल० फिन्केल एन्ड आर० डब्लू० गेम्पलस (एडिट) पोलिटिकल डेवलपमेण्ट एण्ड सोशल चेन्ज, न्यूयार्क जान वेली एण्ड सन्स, १९६६।

उन्नीथान, टी० के० एवं योगेन्द्र सिंह : 'सोशियोलाजी ऑफ नान वायलेन्स एण्ड पीस', रिसर्च कौंसिल फार कल्चरल स्टडीज, इण्डिया, इण्टरनेशनल सेण्टर, ४०, लोदी स्टेट, नई दिल्ली, १९६९।

झा, शशि शेखर : 'पोलिटिकल एलीट इन बिहार', बोहरा एण्ड कम्पनी प्रा० लिमिटेड, बाम्बे, १९७२।

पण्डित, विजयलक्ष्मी : 'राजनीतिक अभिजन : भारतीय सन्दर्भ' दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि०, नई दिल्ली, १९७८।

ब्लैक, सी० ई० : द डाइनामिक्स ऑफ माडर्नाइजेशन, न्यूयार्क, हार्पर एण्ड रो, १९६६।

बाटोमोर, टी० बी० : 'एलीट एण्ड सोसाइटी', मिडिल सेक्सेज, पेनग्यून, १९६६।

मैनहाइम, कार्ल : 'एस्सेज ऑन द सोशियोलाजी ऑफ कल्चर', लन्दन, १९६६।

लर्नर, डेनियल : 'पासिंग ऑफ ट्रेडीशनल सोसाइटी : माडर्नाइजिंग दि मिडिल ईस्ट', दि फ्रीसेस ऑफ ग्लेन्को, १९६२।

सिंघवी, लक्ष्मीमल्ल : 'भारतीय राजनीति और राजनीतिक दल, समस्याएं और सम्भावनाएं', रिसर्च पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, १९७२।

सिंह, जे० एन० : 'उत्तर प्रदेश के विधानमण्डलीय अभिजन' इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९८३।

ग्रामीण जातियों में व्यावसायिक परिवर्तन

अनिल कुमार सिंह

जाति व्यवस्था भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण आधार है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है। जाति के प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक और धार्मिक दायित्व है कि वह इसी व्यवसाय के द्वारा आजीविका प्राप्त करे। यद्यपि यह सच है कि हमारे समाज में व्यावसायिक विभाजन कभी भी पूर्णतया लागू नहीं किया जा सका, लेकिन इतना अवश्य है कि एक जाति के अधिकांश सदस्य अपनी जाति के लिए निर्धारित व्यवसाय द्वारा ही जीविका उपार्जित करते रहे हैं। वर्तमान युग में जाति का यह आधार लगभग समाप्त हो चुका है। जाति व्यवस्था को स्थिर रखने वाले ग्रामीण क्षेत्रों में आज सभी जातियों के कुछ व्यक्ति कृषि व्यवसाय करने लगे हैं। नगरों में भी ऐसा कोई भी व्यवसाय नहीं मिलेगा जिसमें सभी जातियों के कुछ व्यक्ति न लगे हों। यद्यपि पुरोहिती पर आज भी ब्राह्मणों का एकाधिकार है लेकिन साथ ही ब्राह्मण कपड़ों की सिलाई, जूते के कारखानों, स्वच्छता विभाग और कपड़ा धोने की लाण्ड्रियों जैसे व्यवसायों के संचालन में भी लगे हुए हैं। दूसरी ओर शूद्र जातियों के बहुत से व्यक्ति शिक्षण संस्थानों में उच्च वर्गों को शिक्षा देते हैं और अनेक ऐसे प्रतिष्ठानों के मालिक हैं जिनमें सैकंड़ों सर्वण श्रमिकों और सामान्य कर्मचारियों के रूप में काम करते हैं। इस प्रकार व्यावसायिक जीवन की गतिशीलता ने सभी जातियों को समान आर्थिक अवसर प्रदान करके जाति-व्यवस्था की कट्टरता को समाप्त कर दिया है।

अनेक अध्ययनों में ग्रामीण व्यावसायिक जीवन में होने वाले इन परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययनों से पता चलता है कि गाँव की उच्च जातियों में अधिकतर व्यावसायिक और आर्थिक परिवर्तन समतल प्रकृति के हैं, जबकि निम्न जातियों में उर्द्ध व गतिशीलता देखने को मिलती है। पश्चिमी बंगाल के शिवपुर गाँव के अध्ययन के आधार पर ईश्वरन (१९६६ : ९६) का कहना है कि अब गाँवों में ब्राह्मण भी हल चलाते हैं और

डा० अनिल कुमार सिंह, प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग, सुदर्शन महाविद्यालय, रीवां (म०प्र०)

शारीरिक श्रम करते हैं जिसे पहले ब्राह्मणोचित कर्म नहीं माना जाता था। केन्द्र शासित दिल्ली के हरिपुर (शर्मा : १९७१) तथा आन्ध्र प्रदेश के तेलांगो ग्राम (रेड्डी : १९६८ : १६७) के ब्राह्मणों ने भी अपने परम्परागत पुरोहितों के व्यवसाय को छोड़कर कृषि व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है। तमिलनाडु के श्रीपुरम् (आन्द्रे बेते : १९६९ : ६४), उड़ीसा के नरसिंहपुर (अजीत रे : १९५६ : ७) तथा उत्तर-प्रदेश के सारगपुर (वरनवास : १९६९ : ४६) के ब्राह्मणों ने क्लर्क की नौकरी ग्रहण कर ली है। दिल्ली स्थित रामपुर गाँव के दो ब्राह्मण परिवारों द्वारा दर्जी और दूध का व्यवसाय ग्रहण करने का उल्लेख लूईस (१९५८ : ८०) ने किया है। लूईस के अनुसार कर्मकाण्डीय श्रेष्ठता के बावजूद ये ब्राह्मण अपने पद और प्रतिष्ठा की हानि इन व्यवसायों को ग्रहण करने में अनुभव नहीं करते। राजस्थान में छः गाँव के ब्राह्मणों ने दर्जी के व्यवसाय के अतिरिक्त शराब की ठेकेदारी और होटल व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है (शर्मा : १९६८ : १०८)। बिहार के चम्पारन गाँव के ररही ब्राह्मणों ने कृषि व्यवसाय किया है। परन्तु उनमें से अधिकतर ने सरकारी या प्राइवेट नौकरी ग्रहण कर ली है (सिंह, सिन्हा और जायसवाल : १९७३)। इसी प्रकार आन्ध्र प्रदेश के रेड्डी (रेड्डी : १९६८) जातियों ने भी नौकरी, दर्जी और दूध बेचने का व्यवसाय अपना लिया है और निकटवर्ती नगर को स्थानान्तरित हो गये हैं।

गाँव की शिल्पकार जातियों के व्यावसायिक जीवन में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न हो रहे हैं लेकिन जिन शिल्पकार जातियों के व्यवसाय की माँग नगर की आर्थिक संरचना में है वे अभी भी अपने परम्परागत व्यवसायों में संलग्न हैं तथा गाँव या नगर में रहकर अपने परम्परागत व्यवसायों को कर रहे हैं। यादवपुर के बढ़ाई (राव : १९७० : १११), आसाम के सुन्दरबाड़ी के जुलाहे (रथ : १९६८) और यादवपुर के नाई निकटवर्ती नगर को स्थानान्तरित हो गये हैं और अपने परम्परागत व्यवसाय में संलग्न हैं। जिस शिल्पकार जातियों के परम्परागत व्यवसाय की माँग नहीं रह गयी है तथा जो नगर को स्थानान्तरित होने में असमर्थ हैं, उन्होंने कृषि मजदूरी का व्यवसाय अपना लिया है। यह प्रवृत्ति यादवपुर के तलसंग्राम (रेड्डी : १९६८), उड़ीसा में विसीपाड़ा के कुम्हार, मैसूर के जुलाहा (बेली : १९५८ : १४९) तथा पंजाब के एक गाँव (सिंह : १९६८) की शिल्पकार जातियों में हैं जो नगर को स्थानान्तरित नहीं हो सकी हैं। इन जातियों ने गाँव में रहते हुए गैर परम्परागत व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है। कुम्हार जाति के लोगों ने अपने उत्पादित वस्तुओं की अधिक माँग न होने के कारण कृषि व्यवसाय ग्रहण कर लिया है मैसूर के बांगल गाँव (इपस्टीन : १९६२ : ३२) के कुम्हार जाति में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति पंजाब के जीतपुर गाँव के कुम्हार जाति में देखने को मिलती है जिन्होंने कृषि मजदूरी को आय के अन्य स्रोत के रूप में ग्रहण कर लिया है (नाथ : १९६५)। मारवा के भम्बो और बलिया जो कि जुलाहा तथा तेली जाति के है उन्होंने कृषि मजदूरी को अपना लिया है (माथुर : १९६४ : १५०)। लाती जो कि परम्परागत रूप में बुनकरों का कार्य करते रहे हैं उन्होंने अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नगर में आफिस की नौकरी ग्रहण कर ली

है (शर्मा : १९५५ : १९०)। मैसूर के नाभहल्मी गाँव के लोहार जाति के लोगों ने अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर स्कूल अध्यापक और फैक्ट्री मजदूर के व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है (विल्स : १९५५ : १५०)। गुजरात के ओलपादतालुक के बढ़ई और सोनार जाति के लोगों ने व्यापार और कृषि व्यवसाय ग्रहण कर लिया है (शुक्ला : १९३७ : ७)।

गाँव की शिल्पकार जातियों के व्यावसायिक जीवन में जो परिवर्तन देखने को मिलता है, लगभग उसी प्रकार का परिवर्तन गाँव के निम्न और अस्पृश्य जातियों में देखने को मिलता है। निम्न जाति के जो व्यक्ति नगर को स्थानान्तरित नहीं हो सके हैं, उन्होंने गाँव में कृषि मजदूर का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। यादवपुर के चमार (राव : १९७० : ८७) तथा पश्चिमी-बंगाल के मूँसी (शर्मा : १९५५ : १८६), बिसीपाड़ा के शराब बनाने वाले (बेली : १९५८) और केरल के पलककड़ा गाँव के ताड़ी निकालने वाली जातियों ने अपने परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर कृषि मजदूर का कार्य ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार राजस्थान में छ: गाँव के मम्बी जिनका परम्परागत व्यवसाय चमड़े का कार्य रहा है उन्होंने कृषि व्यवसाय को अपना लिया है (बोस और जोधा : १९६५)।

बिहार के कंचनपुर गाँव के चमार जाति के सदस्य निकटवर्ती नगर को स्थानान्तरित हो गये हैं और उन्होंने मुर्गीपालन, स्वीपर या स्कूल अध्यापक जैसे सफेदपोश व्यवसायों को अपना लिया है। इसी प्रकार कुछ निम्न जातियों जैसे जयपुर नगर से १८ कि० मी० दूर कुन्दनपुर गाँव के रायगर जाति के लोगों ने जिनका परम्परागत व्यवसाय चमड़े और जूते का कार्य करना था, अपने नेताओं के कहने पर परम्परागत व्यवसाय को छोड़ दिया और नौकरी या मजदूरी के द्वारा जीवन यापन करने लगे (श्रीवास्तव : १९७३)। महाराष्ट्र के एक गाँव में निवास करने वाले महार जाति के व्यक्तियों ने जिनका परम्परागत व्यवसाय मजदूरी या गाँव की उच्च जातियों की सेवा करना था, अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर या तो गाँव में खेती का कार्य करने लगे या बम्बई में फैक्ट्री मजदूर के रूप में कार्य करने लगे हैं (डिसूजा : १९६२)। मैसूर के मदिका जाति के लोगों ने भी अपने परम्परागत चमड़े के कार्य को छोड़कर कृषि मजदूरी को अपना लिया है (पर्वथम्भा : १९६९)। इसी प्रकार राजस्थान के जूता बनाने वाले जाति के कुछ व्यक्तियों ने अध्ययन को अपना व्यवसाय बना लिया है (शर्मा : १९६८ : १०८)। दिल्ली के निकट एक गाँव के चमार जाति के लोगों ने दर्जी के व्यवसाय को अपना लिया है और नगर में जाकर फैक्ट्री तथा आफिस में कार्य करने लगे हैं (गंगार्डे : १९६६ : १३५)।

कुछ अन्य अध्ययनों द्वारा भी गाँव के उच्च और निम्न जातियों के व्यावसायिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। प्रभाशंकर पाण्डे (१९७८) ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में चीनी मिल के निकट स्थित १० गाँव के अध्ययनों के द्वारा औद्योगीकरण के प्रभाव का विश्लेषण किया है। इस अध्ययन के अनुसार कृषि व्यवसाय ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी पहले जैसा बना हुआ है। परन्तु औद्योगीकरण द्वितीयक और तृतीयक उद्योगों

में रोजगार और नौकरी के नवीन अवसर ग्रामिणवासियों को प्रदान किये हैं। ग्रामीण निवासी इन नवीन रोजगार और नौकरियों को ग्रहण कर रहे हैं और उनके जातिगत पृष्ठभूमि का इस व्यावसायिक परिवर्तन पर कोई विशेष प्रभाव देखने को नहीं मिलता। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि रोजगार और नौकरी के अवसर इतनी शीघ्रता से उत्पन्न हो रहे हैं कि व्यावसायिक निर्णय जातिगत आधार पर न होकर अब व्यक्तिगत आधारों पर हो रहे हैं। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा, व्यक्तियों में सामाजिक जागरुकता बढ़ेगी, जाति व्यवस्था के व्यावसायिक निषेध अपने आप ही प्रभावहीन होते जायेंगे। इसमें समय कितना ही क्यों न लगे लेकिन यह एक निश्चित तथ्य है कि भारत का सामाजिक पर्यावरण आज जाति व्यवस्था के व्यावसायिक प्रतिबन्धों के पक्ष में नहीं है।

REFERENCES

Beteill, Andre, 1969, *Caste Class and Power*, Oxford Univ. Press, Bombay.

Beiley, F. G., 1968. *Caste and the Economic Frontier*, A Village in High Land Orissa, Oxford Univ. Press, Bombay.

Basmabag, A. P., 1969. *Social Change in North Indian Village*, Indian Institute of Public Administration, New Delhi.

Bels, A. R., 1955 (in) *India's Villages*, M. N. Srinivas (ed.) Asia Publishing House, Bombay.

Soja, D. Victor, 1962. Changing Status of Scheduled Caste, *The Economic Weekly*, Vol. XVI, No. 48, Dec. 1.

Ebstein, T. S., 1962. *Economic Development and Social Change in South India*, Manchester.

Gough, K., 1955. The Social Structure of Tanjore Village in Marriot (ed.) *Village India*.

Gangrad, K. D., 1966. Panchayat Elections of 1959-63, *Man in India*, Vol. 46, No. 2, April-June.

Ishwaran, K., 1966. *Tradition and Economy in Indian Village*, Allied Publishers, Bombay.

Lewis, Ugcar, 1958. *Village Life in Northern India*, Alfred. A. Knapt, INC.

Mathur, K. S., 1964. *Caste and Ritual in a Malwa Village*, Asia Publishing House, New Delhi.

आदि जनक एवं आदि जननी–आधुनिक दृष्टिकोण

उदय प्रताप सिंह

"मानव क्या बनेगा ? अभी उत्थान करेगा,
देवदूत से कुछ कम है...पुनः आगे बढ़ेगा।
देखता है नीचे—लगता हो दुखी जैसे
वृषभ शक्ति एव भालुओं के भाल को पाने के लिए।
सभी प्राणी बने हैं उसके लिए
वही उपयोग को निश्चित करता है।
क्या वह सर्वशक्तिमान है ?

—अलेक्जेन्डर पोप

मानव क्या है ? इस प्रश्न ने दार्शनिकों, कवियों, विद्वानों, वैज्ञानिकों, नाटककारों तथा अन्य बुद्धिजीवियों को एक लम्बी अवधि से व्यस्त रखा है। "मनुष्य एक प्राणी है, ऐसा विद्वानों ने कहा है, तो डार्विन ने इसकी विविधता को स्पष्ट किया। यदि मानव जिज्ञासु, चंचल-चित और जटिल प्राणी हैं तो प्रश्न उठता है कि मानव के आदि जनक और आदि जननी कौन और कैसे रहे होंगे ? क्या वह भी आधुनिक मानव की तरह थे ? इन प्रश्नों का उत्तर गर्भ में आज तक छिपा हुआ है। भारतीय समाज ने इस रहस्य को मनु श्रद्धा, ब्रह्मा, विष्णु के अवतारों में ऐसा संजोया है कि वैज्ञानिक कसौटी से वे निरन्तर परे बने रहे तथा मानव का मन भी मोहते रहे। जब आधुनिक विज्ञान चन्द्रमा और सूर्य से परे निवासी गृहों को भी अवगाहन करने से नहीं चूका तो मानव सृष्टि की गहराई उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं होनी चाहिए।

सबसे पहले मानव-कंकालों, पाषाणों तथा अस्थियों पर किये गये शोध कार्यों के फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकाला गया था कि मानव की आदिम जाति बानरों, चिम्पैंजी अर्थात बनमानुष की रही होगी जो कालान्तर में अपनी पूँछ खोकर मानव के रूप में बदल गयी। जब सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन (१८५०) और ए०आर०वॉल्स ने अपने विकास सिद्धान्त

उदय प्रताप सिंह, मानव विज्ञान विभाग, शोध छात्र (यू० जी० सी० प्रोग्राम), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

के आधार पर मानव उत्पत्ति बनमानुष से सम्भव घोषित की तथा जर्मनी की नियन्डरथल घाटी में प्राप्त किसी नरकंकाल को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया तो यह धारणा बड़ी तेजी से पनपी थी। लेकिन डार्विन के इस मत की पुष्टि की जहमत समकालीन प्रख्यात जीव-वैज्ञानिक थॉमस हक्सले (१८२५–६५) ने ली। ब्रिटिश असोसियेशन आफ साइन्स की आक्सफोर्ड में आयोजित गोष्ठी में बिशप सैमुवल विल्वर फोर्स (Samuel Wilver Force) ने अनुपस्थित डार्विन की बहुत ही खिल्ली उड़ाई और अन्त में उन्होंने हक्सले को संकेत करके उनसे प्रश्न किया "वह अपने पूर्वजों में कपियों का स्थान अपने पितामह की पीढ़ी में रखते हैं अथवा अपनी दादी की पीढ़ी में"। हक्सले ने इसका समुचित उत्तर कह दिया था कि "वे साधारण मर्कट की पीढ़ी से अपने को सम्बन्धित करना अधिक पसन्द करेंगे, बनिस्पत एक ऐसे मनुष्य से जो अपना ज्ञान तथा वक्तृता का प्रयोग तथ्य की खोज करने वालों का भ्रान्तिपूर्ण चित्रण करने के लिए करता है।" फिर भी कुछ आधुनिक वैज्ञानिक इस सिद्धान्त को पूर्णतः सत्य नहीं मानते कि–क्या झुकी हुई कमर वाला बन्दर मानव का पूर्वज हो सकता है ? यह बात उनको नहीं भाती और प्राप्त नर कंकाल को वे किसी युद्ध में काम आये किसी सैनिक का कंकाल बताते हैं। शरीर रचना वेत्तओं ने तो उस कंकाल को किसी 'रोगी का अस्थिपंजर' करार दिया।

लेकिन जब योरोप और एशिया में और भी कई नरकंकाल प्राप्त हुए तब मानव वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला कि नियन्डरथल घाटी का मानव कदाचित उस मानव जाति का रहा होगा जो पर्याप्त लम्बे तगड़े और प्रलम्ब मस्तक वाले रहे होंगे, जिनकी जाति ३४,००० वर्ष पूर्व रहस्यमय ढंग से विलुप्त हो गयी होगी। मानव की यह प्राचीन जाति 'झुकी हुई कमर वाली' नहीं थी और जो कंकाल चार्ल्स डार्विन के हाथ लगा वह किसी गठिया के रोगी मानव का कंकाल रहा होगा।

मानव वंशज किसी जंगली गुफा में रहने वाले प्राणी भी नहीं हो सकते क्योंकि उनका कपाल हमारे कपाल से अधिक बड़ा होता था। यद्यपि इसका आकार प्रकार हमारे मस्तिष्क जितना ही था। उनके जीवाष्मों के विश्लेषण से विदित होता है कि वे अपने बड़े-बूढ़े अशक्त जनों का भी बड़ा ख्याल रखते थे और मृतकों को जमीन में दबा देते थे। सम्भवतः यही मानव हम सब के पूर्वज रहे हों।

तत्कालीन एशिया में जीवाष्म खोजी वैज्ञानिकों ने अर्ध शदी पूर्व जावा-मानव और पेकिंग-मानव की अस्थियों को भी खोज निकाला। इनके मस्तिष्क तो छोटे थे किन्तु उनकी शारीरिक संरचना और मांस पेशियाँ सशक्त एवं सुदृढ़ हुआ करती थीं। इन कंकालों की खोज पर यह अनुमान लगाया गया कि वे लोग कदाचित ८ लाख पूर्व वर्ष उस अवधि तक विद्यमान थे जब कि विकास सिद्धान्त अपनी इतिश्री पर था और यह भी सम्भव हो सकता है कि वे लोग भी मानव के पूर्वज रहे हों और नियन्डरथल मानव ही आधुनिक योरोपीय मानव बन गये हों। उद्‌विकास की व्यवस्था जो लगभग दस लाख वर्ष से प्रक्रिया गत हो तो जाति गत एवं वर्णगत विभेद उत्पन्न करने में इतना कारगर हो ही सकता है।

मानव वैज्ञानिक आधुनिक मानव की उत्पत्ति की व्याख्या भिन्न-भिन्न तरह से करते हैं। वे इसके जीवन के साक्ष्यों को टर्शरी युग से पाते हैं, जिसमें दाँत, जबड़ों के टुकड़े तथा कुछ कपालांश हैं। टर्शरी युग में मुख्यतः कपि (मानवाकार बन्दर) जीवाश्म प्लायोसीन-मायोसीन अनुयुग में मिलते हैं। सायमन्स (१९७२) ने ओलिगोसीन अनुयुग से लेकर प्लायोसीन-मायोसीन अनुयुग में प्राप्त समस्त मुख्य अपवंशों को दो भागों में रखा।—(१) ड्रायोपिथेसिनी (Dryopithecinae) (२) जायगेंटोपिथेसिनी (Gigantopithecinae) लेकिन इन उपवंशों के विभागों से रामापिथेकस को अलग रखा। अन्य कई मानव वैज्ञानिकों ने मानव के विकास क्रम को इस प्रकार माना—

१. प्लायोसीन—मायोसीन अनुयुग में हाइलोवैटिडी (Hylobatidae) वंश के तीन जीनस बताए गये—एलोपिथेकस (Aelopithecus), प्लायोपिथेकस (Plyopithecus), लिम्नोपिथेकस (Limnopithecus)। जिनमें लिम्नोपिथेक्स फ्रांस तथा बाद में चेकोस्लावाकिया से प्राप्त हुआ। इसमें अधोहनु की निचली भुजाओं की गहराई अवश्य ही अधिक थी तथा चिबुक (Chin) बड़ा था। लिम्नोपिथेकस, प्लोयोपिथेकस को कपियों का पूर्वज माना जा सकता है।

२. प्राप्लियोपिथेकस (Propliopithecus) आदि वानर का प्राचीनतम माना गया जिसके हाथ आज पाये जाने वाले गिब्बन के समान थे इसे प्लायोपिथेकस का समवर्ती भी कहा जाता है।

३. मानव वैज्ञानिकों ने प्रोकांसल जीवाश्म को एवं ड्रायोपिथेकस को विशाल बानरों की जाति का जीवाश्म माना, जो योरोप, चीन, भारत और अफ्रीका में पाये गये। इसे ओरियोपिथेकस के वंश वृक्ष की एक शाखा कहा जाता है। ड्रायोपिथेकस का कद ४ फिट तथा वजन ८० पौंड था जो वास्तव में बानरों की विकसित जाति ही थी।

४. कई मानव वैज्ञानिक रामापिथेकस को मानव की विकास पंक्ति में पहला मानव मानते हैं, जिसके दाँत, जबड़े, तालु मनुष्य की तरह थे।

५. आष्ट्रेलोपिथेकस अपने पूर्ववर्ती रामा से इस जाति के बीच में ९० लाख वर्ष बाद का है यह मानव सीधा चल सकता था, धरती पर रहता था, और पत्थर फेंक सकता था। इसे मानव का आदि जनक या जननी कहा जा सकता है।

६. पैरन्थ्रापस को उपर्युक्त के आगे की कड़ी माना गया। बड़े जबड़े का यह जीव शाकाहारी था। इसका विकास आगे नहीं हो सका सम्भवतः इसे विकसित आष्ट्रेलोपिथेकस ने नष्ट कर डाला।

७. विकसित आष्ट्रेलोपिथेकस का कपाल अपने पूर्व जाति से बड़ा था अब यह हथियार-औजार बनाने लगा था।

८. यूजीन डुबाय (१८६१) को जब ज़ावा से प्रादर्श प्राप्त हुए तो उन्होंने हाइकेल के दिये गये नाम को उचित समझा परन्तु उर्वस्थि की विशेषताओं के आधार पर इसको पिथकैन्थ्रापस इरेक्टस (Pithecanthropus Erectus) की संज्ञा दी क्योंकि यह कपि सम मानव पूर्णरूपेण द्विपद था। कोइंगसवाल्ड को १९३८-३९ में जावा में ही कुछ अवशेष प्राप्त हुए, जिनको तुलनात्मक बनावट के आधार पर पिथकैन्थ्रापस इरैक्टस के बाद का उद्‌विकसित मानव माना गया। चीन के पेकिंग में जावा मानव के सदृश लगभग ४० मानवों के अवशेष १९२० से १९३७ तक मिले जिनका नाम 'सिनैन्थ्रापस पेकिनसिस' (पेकिंग मानव) दिया गया। पिथैकन्थ्रापस इरेक्टस तथा सिनैन्थ्रापस पेकिनसिस दोनों को ही १९६० में सर्व सम्मति से 'होमोइरेक्टस' नाम से सम्बोधित किया गया। इस प्रकार 'होमोइरेक्टस' हमारी पीढ़ी का पहला मानव था जो द्विपद गामी के साथ ही साथ अग्नि का प्रयोग करता था।

९. सोलो मानव (Homo Solensis) वाइडेनरीच के मतानुसार यह मानव भूगर्भिक प्रस्तर के आधार पर होमोइरेक्टस के बाद का माना गया जो विकसित प्रादर्श का था। इसका कपाल आज जैसा और बड़ी तथा घनी भौहें एवं माथा ढलुआ था।

१०. जे० एस० वीनर, के० पी० ओकले तथा ली ग्रास क्लार्क (१९५३) ने मानव विकास क्रम में वाडजिक मानव (Homo Wadjakensis) अफ्रीकैंथ्रापस जारिसिस तथा हाइडिल वर्ग मानव को क्रमशः रखा है कालान्तर में जिसकी पुष्टि कई मानव वैज्ञानिकों ने की। अवशेषों की विशेषताओं के तुलनात्मक अध्ययन ही विकास क्रम का आधार माने गये।

११. नियन्डर्थल मानव उतना पाशविक नहीं था जितना उसके स्वरूप से लगता है। यह भूमध्य सागर के निकटवर्ती यूरोप में प्राप्त हुआ। जर्मनी क्षेत्र के नियन्डरथल घाटी में सर्व प्रथम प्राप्त होने पर इसको नियन्डरथल मानव कहा गया है। इसका कपाल आज के मानव से बड़ा था। यह विकसित औजारों और हथियारों का प्रयोग किया करता था। इसको प्राप्त अवशेषों की विशेषताओं के आधार पर दो समूहों में रखा गया एक को कन्जरवेटिव नियन्डरथल (Conservative Neanderthal) तथा दूसरे को प्रोग्रेसिव नियन्डरथल कहा गया। पहला परम्परागत शारीरिक विशेषता वाला था तथा दूसरा विकासशील जो आधुनिक मानव जैसा था। पहले में माडस्टीरियन अथवा स्थाई समूह (Spy group) के अवशेष लिए गये तथा दूसरे भाग में क्रापिना, इहरेनडार्फ स्टीनहाइम के मानव अवशेष रखे गये।

१२. 'होमी सैपियंस का विकास किस प्रकार हुआ जब कई मानव अवशेष भिन्न-भिन्न उप समूहों में रखे गये ? इस पर हावेल ने अपना विचार इस आकृति के द्वारा व्यक्त किया—

१३. क्रोमैगनन मानव संस्कृत और सभ्यता के लिहाज से आज के मानव से मात्र एक कदम पीछे है। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार यह गुहा चित्र पत्थर पर बनाने वाला था। बाद में यह नस्ल कई जातियों में बंट गयी। मानव वैज्ञानिकों के अनुसार क्रोमैगनन आधुनिक काकेशियन प्रजाति का जनक है। ऐसा माना जाता है कि क्रोमैगनन और नियन्डरथल मानव कालान्तर में वर्ण संकर हो गये। नीग्रायड प्रजाति का जनक गिमाल्डी में प्राप्त अवशेष को माना गया है। क्रोमैगनन की औसत कपालीय क्षमता आधुनिक मानव से अधिक थी।

१४. इस प्रकार आधुनिक मानव शारीरिक रूप से क्रोमैगनन के समान सभ्य सुसंकृत एवं खेती करने वाला है उसने कुछ समय बाद पशुपालन को अपनाया और अन्य जीवन का परित्याग किया तथा नगर एवं राज्यों का निर्माण किया।

जो भी हो, इस उद्विकासीय रेखा के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि प्राचीन मानव की मूल जाति का आविर्भाव अफ्रीका में ही हुआ होगा क्योंकि अफ्रीका ही एक ऐसा देश है जहाँ दस लाख से भी अधिक वर्षों से मानव के अस्तित्व का पता चलता है तथा उसके प्रमाण भी मिले हैं। अफ्रीका में पत्थर के उपकरणों का अविष्कार मानव के जिस पूर्वज ने २० लाख वर्ष पूर्व किया था, उसका नाम होमो वैविलिस (Homo Vavelesis) बताया जाता है। इसके पूर्व 'लूसी' नामक एक महिला का पता चलता है। जिसका कंकाल ३० लाख वर्ष पुराना बताया जाता है। इस कंकाल को १९७४ में इथियोपिया के रेगिस्तान के उत्खनन से मिला। इसका नाम 'लूसी' इसलिए पड़ा क्योंकि खोजकर्ता आत्म-विभोर हो 'लूसी इन द स्काई' बीटल गीत की धुन पर सारी रात नाचते रहे थे। इस कंकाल की लम्बाई लगभग १०५ सेमी० थी जिसका आकार प्रमाणित करता है कि 'लूसी' चिम्पैंजी बन्दर की तरह झुककर नहीं चला करती थी, 'वह ऊर्ध्व चलती थी।

अनेक जीवाश्मों की खोजबीन से वैज्ञानिक और अनुसंधानकर्ता इस निर्णय पर पहुंचे कि मानव के पूर्वज यद्यपि बन्दरों की जाति के समानुरूप थे लेकिन वे स्वयं वानर नहीं हो सकते। विकास की गति के समय उनमें चाहे भले ही मेल जोल या समानता के लक्षण विद्यमान रहे हों लेकिन लाखों वर्षों के पश्चात उनका विकास बिल्कुल अलग हुआ।

तदोपरान्त वैज्ञानिकों ने मानव वंशावली हेतु कई दाँव पेंच अपनाये और यह मानते हैं कि मानव की आदि जननी डेढ़ लाख वर्ष पूर्व अफ्रीका में रह रही होगी जिसकी सन्ततियाँ कालान्तर में योरोप तथा ऐशिया में बस गई । इस प्रकार आदि जननी आधुनिक मानव जैसी ही थी किन्तु पर्याप्त हृष्ट पुष्ट और शक्तिशाली रही होगी जैसे कि अफ्रीका के निवासी होते हैं । मानव की आदि जननी अन्य प्राणियों से भिन्न रही होगी क्योंकि वह स्वयं सोच विचार कर अपना काम कर सकती थी इसलिए होमोसैपियन्स (Homo Sapians) जाति में गणनीय है । बाहर की ओर निकला हुआ मुख तथा मस्तक घुसा हुआ होगा । आज के बुशमैन (दक्षिण अफ्रीका) की तरह वह लोगों के समूह में रहती हुई अपने शिशु को स्तन से चिपकाये मैदानों में भोजन की खोज में भटकती होगी । विश्व के समस्त पुरातन मानव इसी तरह से खाना बदोश थे चाहे वह जावा मानव हों या पेकिंग मानव ।

जीव वैज्ञानिकों (बर्कले आदि) ने 'जीन' का पता लगाया है जो केवल माँ की वंश से ही सम्बन्धित होती है और इसी आधार पर उन्होंने मानव की आदि जननी का अस्तित्व अफ्रीका में सर्वप्रथम होने का अनुमान लगाया है । कुछ समय पश्चात मनुष्य के मूल जननी की सन्ततियाँ एशिया और योरोप को ९० से १८० हजार वर्ष पूर्व, प्रस्थान किया होगा। उनका मिलन योरोप में नियन्डरथल तथा पुरातन-मानव वंशजों से हुआ होगा । सम्भव है इन भ्रमणकारी मानवों की संख्या अन्य मानवों समूहों से कम रही हो लेकिन जहाँ कहीं भी मूल जननी की पुत्रियाँ पहुंची होगी, उनका मिटोकांड्रियल डी०एन०ए० (मूवंश बीज) जीवित रहने में समर्थ रहा होगा । भ्रमणकारी मानव का संगठित होना स्वाभाविक है जब यह दूसरे पर्यावरण में पहुंचे होंगे । इसलिए वे योजनाबद्ध ढ़ंग से अग्रसारित होते गये क्योंकि इन्होंने पत्थर के उपकरण भी मूलनिवासियों की अपेक्षा विकसित प्रकार के बनाये । कालान्तर में मूल निवासियों का शनैः शनैः कत्लेआम करके अफ्रीकी मूल जननी के वंशज ही अखिल भूमण्डल पर प्रसारित हो गये होंगे यद्यपि इस विस्तार में हजारों वर्ष समय लगा होगा ।

हमारे मूल वंशज के विषय में मिशीगन विश्वविद्यालय के मानव वैज्ञानिक मिलफोर्ड बालकप की धारणा है कि मूल वंशज दस लाख वर्ष पूर्व अवतरित हुए होंगे । 'बालपक' यह नहीं मानते कि मानव की मूल जननी अफ्रीका में रही होगी । डब्लू० डब्लू० टावेल्स (हाइनार्ड विश्वविद्यालय) का विचार अपेक्षित है कि तत्कालीन योरोपीय मानव में मानव-विकास क्रम को आगे बढ़ाया हो, ऐसा असम्भव लगता है । उनके मतानुसार एक तो मूल-मनुष्य के वंशज अन्य देशों की ओर गये जैसे कि अफ्रीका के वंशजों के बारे में अनुमान लगाया जाता है और दूसरे मानव की विभिन्न जातियाँ बहुत प्राचीन समय में ही लाखों वर्ष कई स्थलों में आविर्भूत हुई और विकसित हुई । तदोपरान्त एक दूसरे से मिलती चली गयी अन्त में आधुनिक मानव का जन्म हुआ । इस मत का प्रचार १९६२ में कारलेटन कून की पुस्तक 'ओरिजन आफ रेसेस' प्रकाशित होने के पश्चात व्यापक रूप से हुआ ।

कून (१९६२) का कथन है कि आधुनिक मानव जाति आकस्मिक ढंग से ही एक बार में उत्पन्न नहीं हुई होगी वरन इसका उद्विकास इस प्रकार हुआ होगा। कितने ही हजार एवं लाखों वर्ष व्यतीत हो गये होंगे तब कहीं आधुनिक मानव का वंश अस्तित्व में आया होगा। उनका विचार यह भी है कि अफ्रीकी सभ्यता इतनी विकसित कभी नहीं रही जितनी कि एशिया और योरोप की सभ्यतायें। इसलिए यद्यपि प्राचीन मानव कंकाल अफ्रीका में भले पाये गये होंगे मानव की मूल संस्कृति और उसका विकास योरोप में और एशिया में ही हुआ होगा। उनका कहना है कि यदि अफ्रीका ही आदि मानव की जन्मभूमि रही है तो 'किंडर गार्डन' जैसा क, ख, ग सिखाने वाला विद्यालय रहा होगा।

इस प्रकार जब से डी०एन०ए० के आधार पर मानव की आदि जननी की खोज आरम्भ हुई तो अफ्रीका में उसके अस्तित्व के कतिपय प्रमाण संकलित किये गये हैं। इंग्लैंड, फ्रांस और अमेरिका के नृवंश वैज्ञानिक हमारे पूर्वज तथा आदि पुरुष की खोज कर रहे हैं इस समय उनकी धारणा है कि यदि जननी अफ्रीका ही योरोप या एशिया में रही होगी, और यह भी आवश्यक नहीं कि आदि पुरुष आदि जननी का पति ही रहा हो वह आदि जननी का पिता भी हो सकता है।

REFERENCES

Alan, J. A. and J. E. Cronin, 1988, Fact, Fancy and Myth on Human Evolution, Report, *Current Anthropology*, Vol. 29, No. 3, June.

Ayala, F. J., 1975. Genetic Differentiation During the Speciation Progress, *Evol-Biol*, 8: 1-78.

Buetter--Janusch, J. 1966. *Origins of Man*, Translated in Hindi by Dr. B. Singh (1973). U. P. Hindi granth Academy Lucknow.

Coon, C. S., 1963. *Origin of Races.*, Alfred A. knopf. Inc., New York.

Darwin, C., 1871. *Discent of Man and Selection in Relation to Sex*, John Marray, (Publishers.)

Dobzhansky, T., 1951. *Genetics and the Origins of Spicies*, Columbia Uni. Press, New York.

Echardt, R. B., 1972. Population Genetics and Human Origins. *Sci. American*, Jan., P. 24.

Fitch, W. M. and E. Margoliash, 1967. *Construction of Phylogenetic Trees Science*, 155 : 269-284.

Goodman, M. and et al., 1971. Molicular Evolution in the Discent of Man, *Nature*; 233 : 604-613.

Herskovits, M. J., 1974. *Cultural Anthropology*, Original Pub. Alfred A. Knopf Inc., New York.

Jacobs, P. A. and et al., 1959. *Evidence for Existence of the Human*, "Super Fimale", Lancet, 2 : 423.

Leakey, L. S. B., 1965. *Progress and Evolution of Man in Africa*, Oxford University Wntd. Press, London.

Scott., E. and H. Cole, 1985. The Elusive Scientific Basis of Creation, *Science*, Quarterly Review of Biology, 60 : 21-30.

Weidenrich, F., 1947. The Trend of Human Evolution, 1 : 221-236,

जनजातीय-मंच

रायका जाति का विकास : कुछ विचार

विनय कुमार श्रीवास्तव

किसी भी समाज का पूर्ण विकास इस तथ्य पर आधारित है कि उसके हर क्षेत्र में समान्तर प्रगति हो; अर्थात् एक समाज के आर्थिक, औद्योगिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और भौतिक विकास का पारस्परिक तालमेल अत्यन्त अनिवार्य है। यदि एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्रों की तुलना में पिछड़ जाता है, या उसकी प्रगति रुक सी जाती है, या अन्य क्षेत्रों में हो रहे विकास के साथ ठीक प्रकार से जुड़ नहीं पाता है, तो वे क्षेत्र जिनमें उत्तरोत्तर विकास हुआ है अपना पूरा प्रभाव नहीं दर्शा पाते हैं। उदाहरणार्थ यदि एक गाँव में पानी की सुविधा उपलब्ध हो मगर शिक्षा के क्षेत्र में किसी प्रकार का विस्तार नहीं हो पाया है तो वह गाँव पिछड़ा हुआ ही कहलाएगा। तकनीकी विकास के साथ-साथ जो सामाजिक परिवर्तन होने चाहिए वे यदि नहीं हो पाते हैं तो आधुनिक तकनीकी विकास एवं औज़ारों के माध्यम से इच्छित एवं प्रत्याशित फल अधूरा रह जाता है। साथ ही यह आवश्यक है कि विकास के दृष्टिकोण से हर समाज की, और विशेषतः पिछड़े हुए वर्ग की, आवश्यकताओं और समस्याओं को समझना चाहिए। उपयुक्त योजनानुसार कार्य करने का दायित्व मात्र अधिकारी वर्ग और समाज सेवकों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि उन लोगों के विचार, जिनके लिए विकास की योजनाएँ बनाई जा रही हैं, भी पूरी तरह जानने चाहिए।

आइए अब इन विचारों के आधार पर हम रायका जाति की समस्याओं और उनके निवारण के विषय में सोचें। किसी भी समस्या को भली भाँति समझने के लिए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना आवश्यक है। जब हम रायका जाति के ऐतिहासिक स्रोत एकत्रित करते हैं तो यह तथ्य स्पष्टरूपेण दृष्टिगत होता है कि यह जाति भारतवर्ष की

विनय कुमार श्रीवास्तव, प्रवक्ता, मानव विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

अन्य विश्वसनीय जातियों में प्रमुख स्थान रखती है। प्राचीन काल से अभी कुछ वर्षों तक इस जाति का राजघरानों के साथ अटूट सम्बंध रहा है। राजसी टोलों का प्रशिक्षण, उनकी देख-भाल करना, एक प्रान्त या प्रदेश को संदेश संप्रेषण करना और हर दुष्कर कार्य का बीड़ा उठा लेना, रायका जाति की कुछ विलक्षणताएँ हुआ करती थीं।

राजस्थान की 'हकूमत री बहियों' से प्राप्त विवरण के अनुसार और आज की अवस्था को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि रायका जाति के जीविकोपार्जन का स्रोत पशुपालन रहा है। कुछ रायका जो विशेषतौर पर हरियाणा, पंजाब, गुजरात के कुछ भाग, और उत्तर प्रदेश में यत्र-तत्र प्रकीर्णावस्था में थे वह कृषि की ओर उन्मुख हुए, परन्तु राजस्थान में अधिकतर रायका पशु पालन ही करते थे।

समय के साथ-साथ पर्यावरण में कई प्रकार के परिवर्तन हुए। चिकित्सा जगत के आविष्कारों से जानलेवा बीमारियों पर भी विजय पा ली गई; इससे जन्म-मृत्यु दर पर बहुत प्रभाव पड़ा। जनसंख्या में वृद्धि हुई। अब वे स्थान जहाँ जंगल थे—या वीरान थे—आबाद होने लगे। भूमि के चरागाह वाले भागों में अब कृषि होने लगी। जंगल कटने लगे और प्रगतिशील कार्यक्रमों के कारण वे लोग जिनका निवास जंगल या पहाड़ों में था अपने मूल स्थान से पुनर्वासित किए जाने लगे लगे।

जैसे जैसे चरागाहों की संख्या कम होती गई और हरे भरे भू-भाग बंजर में परिवर्तित होने लगे, पशुपालकों की समस्याएँ और अधिक जटिल हो गईं। मवेशियों के टोलों को लेकर सैकड़ों मील का सफ़र, चारे और पानी की तलाश में, जिसकी वजह से घर से आठ-नौ महीने दूर रहना, रायका जाति का जीवन बन गया जिनके बहुत से अंश आज भी पाए जाते हैं। इस तरह के घोर श्रमसाध्य जीवन के कारण धीरे-धीरे रायका लोग शहरों और गाँवों में हो रही विकास योजनाओं से दूर हो गए, और वह जाति जिनके सराहनीय कार्य बहियों, लोक काव्य एवं दन्तकथाओं में मिलते हैं, पिछड़ती गई। इन सब परिवर्तनों के साथ रायका लोगों के सर्वप्रिय पशु ऊँट की उपयोगिता यातायात के नए साधनों ने कम कर दी। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस जाति की समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न अब नितान्त आवश्यक हो गए हैं।

सबसे प्रमुख बात यह है कि आज के बदलते और आधुनिक समाज में शिक्षा ही वह अनमोल वस्तु है जिसके द्वारा उच्च पदों पर पहुँचा जा सकता है। किसी भी पिछड़े हुए समाज को उन्नति के पथ पर लाने के लिए उसकी नई पीढ़ी को शिक्षित करना अत्यन्त अनिवार्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए केवल पाठशालाओं का खोल देना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह देखा जाए कि विद्यार्थी शिक्षा के प्रथम चरणों में ही स्कूल न छोड़ दें। मुख्यत: घर के कामकाज और शिक्षा की ओर प्रेरित न होने के कारण बच्चे कुछ ही वर्षों में स्कूल छोड़ देते हैं। इसलिए समाज और परिवार का यह कर्तव्य बनता है कि बच्चों की

पढ़ाई पर पूरा ध्यान दें, उनको बचपन से घर के कार्यों की जिम्मेदारी न सौंपे, और शिक्षा में जागृति लाँए । इस जागृति के लिए प्रौढ़ शिक्षा तो अनिवार्य है ही, साथ में आर्थिक परिवर्तन होने चाहिए ताकि बच्चों को घर के कार्य से अवकाश प्राप्त हो सके ।

रायका लोगों का, जैसा कि पहले कहा गया है, प्रमुख व्यवसाय पशुपालन ही रहा है । वे लोग जो अभी पशुपालक ही हैं, उनके लिए पशुओं को चराने के स्थान अत्यन्त आवश्यक हैं । पशुओं पर लगाई गई दरें कम हो जाँए तो आर्थिक बोझ कुछ कम हो जाएगा । नए चरागाह बनाए जाँए जिससे कि चारे और पानी की लम्बी तलाश पर कुछ तो अंकुश लगे । यहाँ यह तथ्य कथमपि विस्मरणीय नहीं है कि भारतवर्ष का आर्थिक स्वास्थ्य काफ़ी हद तक उसके पशुधन और उनकी अच्छी देखरेख पर निर्भर करता है ।

पशु पालन के लिए दो बातें मुख्य हैं—पशुओं की आदतों का ज्ञान और उनके रोगों की जानकारी, तथा उनके निवारण के उपाय । चूँकि रायका जाति का पशुओं के साथ—विशेषकर ऊँट के साथ—गहरा सम्बंध रहा है, इसलिए उनको पशुओं की आदतों और उनकी बीमारियों के इलाज की समुचित जानकारी है । अपने शोधकार्य के दौरान मुझे रायका जाति की बहुत सी आश्चर्य से चकाचौंध कर देने वाली बातों का पता लगा । ऊँटों के पदचिन्हों से उसके लिंग को जानना, उस पर कितने सवार बैठे हैं यह ज्ञात करना, इन चिन्हों से ऊँट की गति और दिशा का अनुमान लगाना, अगर ऊँटनी है तो क्या उसने गर्भधारण किया है यह मालूम करना इत्यादि बातों की जानकारी की आवश्यकता मनुष्य को सदैव रहेगी । पशुओं की चिकित्सा के लिए रायका जाति को सदियों से चले आए उपचार के सफल तरीके अवगत हैं । आज के चिकित्सा विज्ञान में इस बात पर जोर डाला जा रहा है कि घरेलू उपचारों का अध्ययन किया जाए और यदि वे सफल पाए जाएँ तो उन्हें औपचारिक चिकित्सा प्रणाली (official health-care system) में सम्मिलित किया जाए । विशेषकर ऊँटों के रोग और उनके निवारण के ज्ञाता रायका लोगों को पशु चिकित्सा महाविद्यालयों (Veterinary College) में प्रमुख स्थान मिलना चाहिए । मेधावी रायका छात्रों को इन संस्थाओं में अगर पूर्ण शिक्षा मिले तो वे भावी चिकित्सक पीढ़ियों से चले आए ज्ञान को आधुनिक चिकित्सा के साथ पूरी तरह सम्मिलित कर पाएँगे ।

अंदरूनी शक्तियों द्वारा विकास की योजना (endogenous development) में सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह कार्य प्रणाली जो एक समाज में सदियों से चली आ रही है आधुनिक विज्ञान की सहायता से और अधिक मजबूत हो सकती है और उसका प्रभाव भी बहुत पड़ सकता है । उदाहरण के तौर पर जो लोग खेती करते आए हैं उनके खेती करने के ढंगों और औज़ारों को आधुनिक तकनीकी विकास से और दृढ़ किया जा सकता है, खेती के नए उपायों से भी समाज को परिचित कराना चाहिए । जिससे कि उसका जीवनयापन सुगम हो । इन्हीं अंदरूनी शक्तियों (endogenous forces) से ग्रामीण जीवन सुखमय और समृद्ध हो सकता है, वरना गाँव को स्लम (slum) बनते हुए अधिक समय नहीं लगेगा । इस संदर्भ में मुझे याद

आता है कि आज से कुछ वर्ष पूर्व मैं अपने विद्यार्थियों सहित बैगाचक (जिला मण्डला, मध्य प्रदेश) क्षेत्र-कार्य (field work) के लिए गया था। यहाँ के बैगा और गोंड आदिवासियों का यह कहना था कि उनके इलाके में प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र (dispensary) होने के बावजूद भी कोई डाक्टर वहाँ ठहरता नहीं है, क्योंकि वे सभी दूर-दराज़ शहरों या क़स्बों से आते हैं और एक आदिवासी क्षेत्र में तबादला उन्हें एक दण्ड सा प्रतीत होता है। उस समय मैंने यह सोचा कि अगर कुछ गोंड और बैगा छात्रों को किसी मेडिकल कॉलेज में प्रशिक्षण दिया जाए और उसके बाद उन्हें अपने ही क्षेत्र में भेजा जाए तो उस समस्या का—कोई चिकित्सक यहाँ रुकता नहीं है—शायद समाधान हो पाए। हाँ, यह भी हो सकता है—जिसकी आशा मुझे बहुत कम है—कि एक बैगा या गोंड छात्र चिकित्सक बनने के उपरान्त अपने इलाक़े में न जाना चाहे, मगर कम से कम वह शिक्षित होने के नाते अपने और साथियों एवम् आने वाली पीढ़ी को शिक्षा की ओर अवश्य आकर्षित करेगा।

प्रायः यह देखा गया है कि जितनी प्रेरणा लड़कों को पढ़ने के लिए मिलती है उतनी लड़कियों को नहीं दी जाती। आज के शिक्षित समाज में भी यह देखा गया है कि लड़के और लड़की का अन्तर, जो प्राचीन काल से चला आ रहा है, आज तक विद्यमान है। यद्यपि हम यह कहते हैं कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे के सम्पूरक हैं मगर जब सुविधाओं की बात आती है तो जन्मजन्मांतर का विशाल अन्तराल हमारे समक्ष उठ खड़ा होता है। लिंगों की सामाजिक असमानता को समाप्त करना किसी भी सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक एवम् अपरिहार्य है। अतः स्त्री शिक्षा को भी उतना ही महत्व मिलना चाहिए जितना कि पुरुषों की शिक्षा को प्राप्त है। एक पढ़ी-लिखी माँ अपने बच्चों की परवरिश अच्छी तरह ही नहीं करेगी, बल्कि उनका ध्यान शिक्षा की ओर केन्द्रित भी करेगी।

प्रारम्भ में मैंने इस तथ्य पर प्रकाश डाला था कि प्रत्येक क्षेत्र का विकास एवं प्रत्येक क्षेत्र के विकास का अन्य क्षेत्रों के विकास के साथ सही तालमेल होना ही प्रगति का सही मापदंड है। इस विकास के पथ में जो रूढ़िवादी विचारधाराएं अवरोध पैदा करती हैं अथवा वे कुरीतियाँ जो शिथिलता लाती हैं उनसे मुक्ति पाना नितान्त आवश्यक है।

नैनीताल जनपद में बुक्सा जनजाति की सामाजिक–आर्थिक स्थिति

सैय्यद कामिल हुसैन

उत्तर प्रदेश में प्रथम बार जून, १९६७ में पाँच जनजातियों का अनुसूचन किया गया। ये जातियाँ थीं, भोटिया, जौनसारी, राजी, थारू एवं बुक्सा। बुक्सा जनजाति उत्तर भारत के चार जनपदों देहरादून, बिजनौर, पौड़ी-गढ़वाल एवं नैनीताल में पाई जाती हैं। सन् १९८१ की जनगणना के अनुसार उपरोक्त चारों जनपदों में बुक्सा जनजाति की कुल जनसंख्या ३४,१९५ है। प्रस्तुत लेख नैनीताल के तीन विकास खण्डों बाजपुर, रामनगर एवं काशीपुर में पाये जाने वाले बुक्सा जनजाति पर किये गये क्षेत्रीय कार्य पर आधारित है।

बुक्सा जनजाति जिस क्षेत्र में बसी हुई है उसे 'बुक्सार' कहा जाता है इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन अभिलेख "आइने अकबरी" है। इसमें कुमायूँ का इतिहास नामक अध्याय में "बनबसा" नामक स्थान का वर्णन है। प्रारम्भ में बुक्सा शारदा नदी के किनारे 'बनबसा' नामक स्थान में, जो कि कीलपुर परगने में आता है, आ कर बसे। बुक्सार में बसने के कारण इन्हें बुक्सा कहा जाने लगा। अब तक उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार बनबसा ही इनका प्राचीन निवास स्थान है। इसी स्थान से बुक्सा जनजाति का प्रसार अन्य स्थानों पर हुआ है।

बुक्सा शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रमाण दिये हैं। अमीर हसन के अनुसार बुक्सा ऐसे लोग थे जो भक्ष्या-भक्ष्य का ध्यान न रख कर सभी जानवरों का माँस खाते थे जिससे उन्हें "भक्सी" कहा गया, यही शब्द कालान्तर में भक्सा, भोक्सा और बुक्सा हो गया।

विलियम कुक ने अपनी पुस्तक "दि ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ नार्थ-वेस्टर्न इन्डिया" पृष्ठ ५५-६१, में सम्पूर्ण बुक्सा जनसंख्या को तीन प्राकृतिक भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में शारदा एवं रामगंगा नदियों के बीच के बुक्सा आते हैं, जिन्हें पूर्वी बुक्सा कहा जाता

सैय्यद कामिल हुसैन, लखनऊ-८

है। दूसरे भाग में पश्चिमी बुक्सा आते हैं, जो कि रामगंगा एवं गंगा नदी के बीच में बसे हुये हैं, तीसरे भाग में देहरादून के मेहरा बुक्सा आते हैं जो गंगा एवं जमुना नदी के बीच में बसे हुये हैं।

बुक्सा अपने मूल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त करते हैं। कुछ अपने को दक्षिण से आया हुआ, कुछ दिल्ली से एवं कुछ राजस्थान से निकाला हुआ मानते हैं। प्रायः सभी बुक्सा अपने को क्षत्रिय बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में 'हेनरी इलियट' ने 'डिसस्ट्रिक्ट गजेटियर' में लिखा है, धारा नगरी के राजा उदयजीत की अपने भाई जगदेव से लड़ाई हो गई, जिससे वे अपने सहयोगियों के साथ शारदा नदी के किनारे बनबसा नामक स्थान पर आकर बस गये। इनके यहाँ आने पर कुमायूँ के राजा ने लड़ाई में सहायता करने के लिये प्रार्थना की। उदयजीत जो पँवार राजपूत थे अपने सहयोगियों के साथ युद्ध में लड़े और उन्होंने विजय प्राप्त की। इससे प्रसन्न होकर कुमायूँ के राजा ने बुक्सार का क्षेत्र उन्हें दे दिया। तभी से ये इस क्षेत्र में बस गये।

सामाजिक-आर्थिक स्थिति

बुक्सा जनजाति का सामाजिक एवं आर्थिक सर्वेक्षण दो विकास खण्डों बाजपुर एवं रामनगर के ६ ग्रामों का निर्धारित परिवार अनुसूची एवं अवलोकन पद्धति के माध्यम से सर्वेक्षण, मिश्रित जनसंख्या वाले ग्रामों का किया गया है। इन ६ ग्रामों में कुल २४१ बुक्सा परिवार निवास करते हैं जिनमें से २०६ बुक्सा परिवारों को सर्वेक्षण की परिधि में लिया गया। इस प्रकार ८६.७२ प्रतिशत बुक्सा परिवारों का सर्वेक्षण किया गया।

बुक्सा में परिवार पैतृक प्रधान होता है और सम्पत्ति का बँटवारा पुत्रों में बराबर-बराबर होता है। विधवा को भी बराबर का हिस्सा पुत्रों के समान मिलता है। विवाह के पश्चात् अधिकांश पुत्र अपना घर अलग बसाते हैं। परन्तु इस जनजाति में अभी भी संयुक्त परिवार काफी संख्या में पाये जाते हैं। सर्वेक्षण के दौरान बाजपुर एवं रामनगर विकास खण्डों के तीन-तीन ग्रामों में एकाकी एवं संयुक्त परिवारों की संख्या निम्न तालिका सं० १ में दर्शायी गयी है :

तालिका सं०–१
चयनित ग्रामों में परिवार प्रकारों की संरचना

क्रम सं०	ब्लाक का नाम	ग्राम का नाम	मूल परिवार	संयुक्त परिवार	विस्तृत परिवार	हाउस होल्ड (नान फेमिलियर डोमेस्टिक ग्रुप)	कपुल
१.	बाजपुर	बरहनी	२८	१७	—	०६	०२
		पौपड़ी	१३	०७	—	०४	—
		चनकपुर	१२	०३	—	०३	०१
२.	रामनगर	सावल्दे पूर्व	२८	१०	—	०६	०५
		सावल्दे पश्चिम	३०	०७	—	०६	—
		थारी	०६	०६	—	०३	—
		योग	११७	५३	—	३१	०८

उपरोक्त तालिका के अनुसार २०६ सर्वेक्षित परिवारों में ११७ एकाकी (५५.६८%) तथा ५३ (२५.३६%) संयुक्त परिवार पाये गये इससे स्पष्ट है कि इस जनजाति में संयुक्त परिवार की भी अच्छी संख्या पाई जाती है।

इन्हीं दो विकास खण्डों के ६ ग्रामों में परिवार के आकार का विश्लेषण निम्न तालिका सं०–२ में दर्शाया जा रहा है :—

तालिका संख्या–२
परिवार का आकार

क्रम सं०	ग्राम का नाम	सर्वेक्षित परिवार संख्या	१ से ३ सदस्य	४ से ६ सदस्य	७ से १० सदस्य	१० से अधिक सदस्य
१.	बरहनी	५६	०६	२४	२४	०२
२.	पौपड़ी	२४	०३	११	०८	०२
३.	चनकपुर	१९	०२	०४	१२	०१
४.	सावल्दे पूर्व	४९	११	२८	१०	—
५.	सावल्दे पश्चिम	४३	०४	२९	१०	—
६.	थारी	१८	०३	०९	०६	—
	योग	२०९	२९	१०५	७०	०५

उपरोक्त तालिका को देखने से मालूम होता है कि ४ से ६ सदस्य वाले परिवारों की संख्या सबसे अधिक है जिसमें १०५ सदस्य हैं, इसके उपरान्त ७ से १० सदस्य वाले परिवारों की संख्या आती है जो ७० है, इसके बाद १ से ३ सदस्यों वाले परिवारों की संख्या आती है जो २९ है। १० से अधिक सदस्य वाले परिवारों की संख्या ०५ है। फिर भी उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट करना उचित नहीं है कि इस समुदाय में कितने एकाकी एवं संयुक्त परिवार हैं परन्तु १० से अधिक सदस्यों के परिवार को संयुक्त की श्रेणी में कहा जा सकता है। सामान्य रूप से बुक्सा जनजाति में दोनों प्रकार के परिवार पाये जाते हैं परन्तु संयुक्त परिवारों की संख्या एकाकी के सापेक्ष कम है। साक्षात्कार के दौरान पता चला कि सामान्य रूप से पुत्र के विवाह के बाद वह अपना घर अलग बसाता है, और यदि पुत्र अकेला होता है तो वह अपने माता-पिता के साथ ही रहता है। एक से अधिक लड़के होने पर यह लोग अलग घर बसाते हैं, और इस प्रकार एकाकी परिवार की प्रथा इनमें अधिक है। इनके समाज में बूढ़े माता अथवा पिता को अपने साथ रखने की प्रथा पुत्रों में पायी जाती है।

बुक्सा जनजाति में सामाजिक संगठन का आधार मुख्यतः गोत्रीय संस्करण पर आधारित है। जाति व्यवस्था का पूर्णतः अभाव है गोत्रीय व्यवस्था में १३ गोत्र श्रेष्ठ एवं ३ गोत्र नेष्ट हैं परन्तु गोत्रीय संस्करण से इनके सामाजिक व्यवस्था पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि विवाह, रीति-रिवाज, खान-पान, आचार-व्यवहार या पारस्परिक सम्बन्धों में इन पर विचार नहीं किया जाता है। आयु समूह के अनुसार सर्वेक्षित परिवार के सदस्यों के विभाजन को निम्न तालिका सं० ३ में दर्शाया गया है :—

तालिका संख्या—३

आयु समूह के अनुसार परिवार के सदस्यों का विभाजन

क्रम सं०	ग्राम का नाम	सर्वेक्षित परिवारों की संख्या	आयु ० से १५ वर्ष		आयु १६ से ५० वर्ष		आयु ५० से ऊपर		योग		कुल योग
			पु०	स०	पु०	स०	पु०	स०	पु०	स०	
१.	बरहनी	५६	७८	८६	७०	७५	२०	१४	१६८	१७५	३४३
२.	पौपड़ी	२४	४२	४२	३०	२९	०९	०६	८१	७७	१५८
३.	चनकपुर	१९	२९	४४	३२	२२	०५	०२	६६	६८	१३४
४.	सावल्दे (पूर्व)	४९	३२	६५	५४	४८	१४	०७	१००	१२०	२२०
५.	सावल्दे (पश्चिम)	४३	४४	५७	५८	४९	१६	०९	११८	११५	२३३
६.	थारी	१८	२८	२०	२४	२३	०५	०६	५७	४९	१०६
	योग	२०९	२५३	३१४	२६८	२४६	६९	४४	५९०	६०४	११९४

तालिका नं० ३ से स्पष्ट है कि सर्वेक्षित बुक्सा परिवारों की कुल जनसंख्या ११९४ है जिसमें ५९० पुरुष तथा ६०४ स्त्रियाँ हैं। इसमें पुरुषों का प्रतिशत ४९.४० है तथा स्त्रियों का प्रतिशत ५०.६० है। १५ वर्ष तक के आयु समूह की जनसंख्या ५६७ (४७.५%) है इसमें पुरुषों की संख्या २५३ तथा स्त्रियों की संख्या ३१४ है। इस प्रकार इस आयु समूह की जनसंख्या सर्वाधिक है। १६—५० वर्ष आयु समूह में ५१४ व्यक्ति हैं जो कुल जनसंख्या का ४३.४ प्रतिशत है इसमें २६८ पुरुष तथा २४६ स्त्रियाँ हैं। ५० वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों की संख्या ११३ है जो कुल जनसंख्या का ९.४६ प्रतिशत है।

शिक्षा

नैनीताल जनपद की थारू एवं बुक्सा जनजातियों में शिक्षा की स्थिति का विश्लेषण वर्ष १९८१-८२ में हरिजन एवं समाज कल्याण विभाग द्वारा समाजशास्त्र विभाग, कुमायूँ विश्व-विद्यालय द्वारा कराया गया, जिसमें बुक्सा जनजाति में साक्षरता की दर ४.८८ प्रतिशत दर्शायी गई है। पुरुषों में इनकी साक्षरता दर ८.६६ प्रतिशत तथा स्त्रियों में साक्षरता ०.६५ प्रतिशत है।

बुक्सा जनजाति के शैक्षिक विकास के लिये आश्रम पद्धति विद्यालय, निःशुल्क आवासीय सुविधा, निःशुल्क पुस्तकीय सहायता प्रोत्साहन स्वरूप देने के फलस्वरूप बुक्सा जनजाति के अभिभावकों तथा बच्चों को शिक्षा की ओर आकर्षित किया गया है। इनमें बालकों के लिये पृथक आश्रम पद्धति विद्यालय भी स्थापित किये गये हैं।

सर्वेक्षण के दौरान शिक्षा के सम्बन्ध में स्कूल जाने वाले बच्चे एवं शैक्षणिक स्तर पर जानकारी प्राप्त की गई जिसे निम्न तालिका सं० ४ में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या—४

बोक्सा ग्रामों में साक्षरता दर

क्रम सं०	ग्रामों के नाम	उन विद्यार्थियों की संख्या जो विद्या प्राप्त कर रहे हैं	प्राइमरी	मिडिल	हाई-स्कूल	इण्टर-मीडिएट	डिग्री
१.	बरहनी	६८	५९	०८	०१	—	—
२.	पौपड़ी	५७	४८	०७	०२	—	—
३.	चनकपुर	२४	२२	०२	—	—	—
४.	सावल्दे (पूर्व)	१६	१४	०१	०१	—	—
५.	सावल्दे (पश्चिम)	१०	१०	—	—	—	—
६.	थारी	०७	०५	०२	—	—	—
	योग	१८२	१५८	२०	०४	—	—

तालिका संख्या ४ को देखने से मालूम होता है कि सर्वेक्षित ६ गावों के १८२ बच्चे सर्वेक्षण के समय शिक्षा पा रहे थे । प्राइमरी कक्षाओं में पढ़ने वाले बच्चों की संख्या १५८ है जो शिक्षा पा रहे बच्चों का ८६.८१ प्रतिशत है। कक्षा ६ से ८ तक मिडिल में पढ़ रहे बच्चों की संख्या २० है जो १०.९८ प्रतिशत है तथा हाई-स्कूल में कुल ०४ छात्र पढ़ रहे हैं।

व्यवसाय

बुक्सा जनजाति की सामाजिक, आर्थिक स्थिति के अध्ययन में इनके मुख्य तथा गौण व्यवसायों की जानकारी आवश्यक है। इस दृष्टि से पाँच क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं, सर्व प्रथम कृषि, द्वितीय कृषक, मजदूर, तृतीय मजदूरी, चतुर्थ नौकरी एवं पंचम अन्य व्यवसाय जिसमें पशुपालन, दूकान, रिक्शा चालक एवं ट्रैक्टर चलाना आदि लिये गये हैं। सर्वेक्षित ६ ग्राम व्यवसाय की स्थिति तालिका सं० ५ में दर्शायी गई है।

तालिका संख्या—५

ग्रामवार परिवारों का मुख्य तथा गौण व्यवसाय

क्रम सं०	ग्राम का नाम	परिवार की सं०	मुख्य व्यवसाय					गौण व्यवसाय				
			कृषि	कृषक मजदूर	मजदूर	नौकरी	अन्य	कृषि	कृषक मजदूर	मजदूर	नौकरी	अन्य
१.	वरहर्नी	५६	४९	०४	०२	०१	००	००	००	००	०१	००
२.	पौपड़ी	२४	२३	००	००	००	०१	००	००	००	०२	००
३.	चनकपुर	१९	१८	०१	००	००	००	००	००	००	०१	००
४.	सावल्दे (पूर्व)	४९	११	३२	०४	०२	००	००	००	००	०४	००
५.	सावल्दे (पश्चिम)	४३	१३	२६	००	०४	००	००	००	००	०१	००
६.	थारी	१८	११	००	०७	००	००	०३	००	००	००	००
	योग	२०९	१२५	६३	१३	०७	०१	०३	००	००	०९	००

तालिका सं० ५ से स्पष्ट है कि बुक्सा जनजाति का मुख्य पेशा खेती करना है। सर्वेक्षित २०९ परिवारों में १२५ परिवारों का मुख्य व्यवसाय कृषि है जो सर्वेक्षित परिवारों

का ५६.८ प्रतिशत है। ६३ परिवारों का मुख्य व्यवसाय दूसरों के खेतों में मजदूरी करना है जो ३०.१४ प्रतिशत है। १३ परिवारों का मुख्य व्यवसाय मजदूरी है जो कि ६.२२ प्रतिशत है तथा ०७ परिवार नौकरी एवं ०१ अन्य व्यवसायों में कार्यरत हैं जो कि क्रमशः ३.३४ और ०.४७ प्रतिशत है। इस प्रकार वे लोग नौकरी की ओर भी ध्यान दे रहें हैं, इस प्रकार का परिवर्तन भी देखने में आ रहा है।

इसी प्रकार ३ परिवारों का गौण व्यवसाय कृषि तथा ०६ परिवारों का नौकरी करना है। क्षेत्र अवलोकन एवं विचार विमर्श से यह भी ज्ञात हुआ कि बुक्सा जनजाति की खेती अन्य जनजातियों की अपेक्षा अधिक पिछड़ी हुई है। जिसका कारण नई तकनीकी ज्ञान की कमी तथा रूढ़िवादी कृषि पद्धति है। इसके अलावा बुक्सा लोग अपने ग्राम को छोड़कर अन्यत्र नौकरी तथा व्यवसाय हेतु नहीं जाते हैं। इस जनजाति के व्यवसायों में गतिशीलता की कमी है और ये लोग अपने क्षेत्र को छोड़कर बाहर जाने के पक्ष में नहीं रहते हैं।

भू-स्वामित्व

भू-स्वामित्व का कृषि प्रधान देश में विशेष महत्व है। भूमि जहां एक ओर जीविका का प्रमुख साधन है वहीं दूसरी ओर यह समाज में प्रतिष्ठा सम्मान का सूचक मानी जाती है। यह स्थिति पिछड़ी हुई जातियों विशेषकर जनजातियों, जिनका प्रमुख पेशा कृषि है उनके लिये भू-स्वामित्व समाज में प्रमुख एवं सम्मान का सूचक है। जिसके पास जितनी अधिक भूमि होगी वह उतना ही प्रतिष्ठित व्यक्ति समझा जायेगा। बुक्सा जनजाति वनों के मध्य वर्षों से रहती आ रही है, उस समय इनके अतिरिक्त अन्य जातियाँ वहा निवास नहीं करती थी। ये जहाँ चाहते खेती कर सकते थे, एक प्रकार से ये अपने को वहाँ का भू-सम्पदा का स्वामी समझते थे परन्तु स्वतंत्रता के बाद यहाँ पाकिस्तान से आये विस्थापितों को भी राज्य सरकार द्वारा बसाया गया कहीं-कहीं भूमि स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों को भी आवंटित की गई तथा नई वन नीति बन जाने से भी इनमें भू-स्वामित्व एवं वन सम्पदा के विचारों एवं उपयोग में व्यवधान उत्पन्न होने लगा। फलस्वरूप यह एक स्थान पर रह कर कृषि करने लगे तथा वन सम्पदा का दोहन भी शासकीय नियमों के अनुसार करने को बाध्य हो गये।

भू-स्वामित्व का विभाजन भूमिहीन, एक एकड़ तक, १.१ से ३ एकड़ तक, ३.१ से ५ एकड़ तक, ५.१ से १० एकड़ तक एवं १० एकड़ से ऊपर निम्न तालिका सं० ६ में सर्वेक्षित परिवार के भू-स्वामित्व की स्थिति दर्शायी गयी है।

तालिका से स्पष्ट है कि ६ ग्रामों के सर्वेक्षित २०६ परिवारों में से ०७ परिवार भूमिहीन हैं जो कुल परिवारों का ३.३४ प्रतिशत है। एक एकड़ तक जोत वाले परिवारों की संख्या ८२ है जो ३६.२३ प्रतिशत है तथा १.१ से ३ एकड़ तक परिवारों की संख्या ३४ है अर्थात कुल परिवारों का १६.२६ प्रतिशत हुआ, ३.१ से ५ एकड तक ५१ परिवार हैं जो कि

तालिका संख्या–६

सर्वेक्षित परिवारों की भू-स्वामित्व की स्थिति (एकड़) में

क्रम सं०	ग्राम का नाम	परिवार संख्या	भूमि-हीन	१ एकड़	१.१ से ३ एकड़	३.१ से ५ एकड़	५.१ से १० एकड़	१० एकड़ से अधिक
१.	बरहनी	५६	—	१०	०९	२५	०६	०६
२.	पौपड़ी	२४	—	०२	०९	०८	०५	—
३.	चनकपुर	१९	०१	०५	०३	०६	०१	०३
४.	सावल्दे (पूर्व)	४९	—	३७	—	०९	०२	०१
५.	सावल्दे (पश्चिम)	४३	—	२८	११	०१	०२	०१
६.	थारी	१८	०६	—	०२	०२	०५	०३
	योग	२०९	०७	८२	३४	५१	२१	१४

०.२४ प्रतिशत हुये, ५.१ से १० एकड़ भूमि वाले परिवार २१ हैं जो कि १०.० प्रतिशत हुये एवं १० एकड़ से ऊपर वाले काश्तकारों की संख्या १४ है जो सर्वेक्षित परिवारों का ६.७ प्रतिशत है।

भूमि जो इनके जोत में है वह उपजाऊ भूमि है फिर भी इनकी उपज अन्य जातियों से जो उक्त ग्राम में निवास करती हैं, बहुत कम है। यह अब भी पुरानी पद्धति से खेती करते हैं। उन्नतिशील बीज तथा उर्वरक का प्रयोग यद्यपि इन्होंने प्रारम्भ कर दिया है फिर भी अधिकांश परिवार देशी बीज तथा गोबर की खाद का प्रयोग करते हैं। इनकी कृषि तकनीक में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु वह नगण्य है।

कृषि

बुक्सा जनजाति का मुख्य व्यवसाय कृषि है। यह साल में दो फसलें रवी तथा खरीफ की उगाते हैं रवी में चना, गेहूँ, जौ, मसूर एवं तिलहन तथा खरीफ में धान व मक्का की फसल उगाते हैं। कैश-क्राप फसलों में मुख्यतः गन्ना ही उगाते हैं इसके अतिरिक्त आलू एवं तिलहन बोया जाता है। गन्ना बाजपुर शुगर फैक्ट्री में बेचा जाता है। इसके अलावा कृषि उपज स्थानीय बाजारों में बेंच देते हैं।

खाद एवं उर्वरक का प्रयोग

सर्वेक्षण के दौरान विचार विमर्श में यह तथ्य उभर कर सामने आया कि बुक्सा अधिकांशत: गोबर की खाद खेतों में डालते हैं। उर्वरक का प्रयोग बहुत सीमित मात्रा में अब करने लगे हैं। अधिकतर जो उर्वरक उन्हें छूट पर अथवा सब्सीडाइज़ रेट पर प्राप्त होता है इसी पर उनका उर्वरक डालना निर्भर करता है। ग्राम में अन्य जातियों की फसलों को देखते हुये बुक्सा जनजाति भी इसका प्रयोग करने लगी है।

उर्वरक की भाँति यह लोग उन्नतिशील बीजों के स्थान पर अभी भी अधिकतर देशी प्रजातियों को ही बोते हैं। शासन द्वारा इन्हें सब्सीडाइज रेट पर उन्नतिशील बीज देने की योजना से ये लोग भी अच्छी वेराइटी के बीज बोने लगे हैं।

उन्नतिशील कृषि यन्त्र

उन्नतिशील कृषि यन्त्रों में यह लोग अभी तक हैरो डिस्क प्लाऊ व पटेला तक अपने को सीमित रखे हैं। यह यन्त्र भी इन्हें शासकीय सहायता से प्राप्त हुये हैं। जिन परिवारों में साक्षात्कार किया गया उन सभी ने यह स्वीकार किया कि यह यन्त्र उन्हें छूट पर परियोजना द्वारा पूर्व वर्षों में उपलब्ध कराये गये हैं।

पशुपालन

बुक्सा जनजाति का जहाँ कृषि मुख्य व्यवसाय है पशुपालन उनका सहायक व्यवसाय कहा जा सकता है। पशुओं की संख्या को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि इस व्यवसाय को स्वतन्त्र रूप से भी विकसित किया जा सकता है। पशुओं की नस्ल उन्नतिशील किस्म की नहीं है दूसरे यह अपने पशुओं को केवल चराई पर रखते हैं। इनके चारे तथा दाना एवं चोकर आदि का पृथक से प्रबन्ध नहीं हो पाता फलस्वरूप इनके पशु स्वस्थ नहीं होते तथा दुधारू पशु वाँछित मात्रा में दूध नहीं देते हैं। यदि बुक्सा जनजाति लोगों को इस ओर प्रोत्साहित किया जाय तो निश्चित ही पशुपालन इनके लिये पृथक स्वावलम्बी व्यवसाय सिद्ध हो सकता है।

आय

बुक्सा जनजाति के सर्वेक्षित ६ गांवों में मुख्य तथा गौण व्यवसायों से प्राप्त आय का वार्षिक ब्यौरा तालिका सं० ६ में दर्शाया गया है।

सर्वेक्षित ६ ग्रामों में २०९ परिवारों में ०१ परिवार की आय १२०० है जो ०.४७ प्रतिशत है। रुपये १२०० से २४०० के मध्य २४ परिवार हैं जो ११.४८ प्रतिशत है। रुपये

तालिका संख्या–६

आय के अनुसार सर्वेक्षित परिवारों का विभाजन

क्रम सं०	ग्राम का नाम	सर्वेक्षित परिवार	०-१२००	१२००-२४००	२४००-३६००	३६००-४८००	४८००-६०००	६००० से ऊपर
१.	बरहनी	५८	—	०६	०६	१४	२२	०५
२.	पौपड़ी	२४	—	५	०६	१८	—	—
३.	चनकपुर	१६	—	—	०२	१३	०४	—
४.	सावल्दे (पूर्व)	४६	०१	०७	१३	१६	०६	—
५.	सावल्दे (पश्चिम)	४३	—	५	११	१७	०५	—
६.	थारी	१८	—	०१	—	०१	०२	१४
	योग	२०६	०१	२४	४१	८२	४२	१६

२४०० से ३६०० के मध्य ४१ परिवार हैं जो सर्वेक्षित परिवारों का १६.६१ प्रतिशत है। रुपये ३६०० से ४८०० के मध्य आय सीमा वाले परिवारों की संख्या ८२ है जो ३६.२३ प्रतिशत है। रुपये ४८०० से ६००० के मध्य आय सीमा वाले परिवारों की संख्या ४२ है जो २०.०१ प्रतिशत है। रुपये ६००० से अधिक आय वाले परिवारों की संख्या १६ है जो ६.०६ प्रतिशत है।

भूमि अतिक्रमण

देश में विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान से विस्थापितों को तराई क्षेत्र में बसाया गया। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों को भी भूमि इसी क्षेत्र में आवंटित की गई। यहाँ की भू-सम्पदा तथा इसकी उर्वरा शक्ति ने अन्य लोगों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। धीरे-धीरे अन्य जातियां भी बुक्सा जनजाति के सम्पर्क में आयी तथा इनकी कमजोरियों का लाभ उठाकर इनकी भूमि को अन्य माध्यमों से हस्तगत करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप जनजातियों की भूमि अतिक्रमण की समस्या की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ। शासन ने उत्तर प्रदेश लैन्ड रिफार्म अमेन्डमेन्ट आर्डीनेन्स १६८१ द्वारा जनजातियों के भूमि हस्तांतरण पर रोक लगा दी। नयी व्यवस्था के अनुसार जिलाधिकारी के पूर्व अनुमति के बिना जनजाति की भूमि दूसरे व्यक्तियों को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती है। इसके बावजूद भी अतिक्रमणकारियों द्वारा जनजातियों की भूमि अधिकृत रूप से लेने के मामले में

कमी नहीं आयी है। बुक्सा जनजाति के सामने भू-अतिक्रमण की समस्या विकराल रूप से विद्यमान है जिसका विस्तार से वर्णन श्री बी० डी० सनवाल की रिपोर्ट आन तराई लैण्ड कमेटी-१९६९; तथा 'रिपोर्ट आफ दी कमिश्नर फार शेडयूल कास्ट एण्ड शेडयूल ट्राइब—१९६९-७०' में किया गया है।

वर्ष १९८३ में राज्य नियोजन संस्थान के क्षेत्रीय नियोजन प्रभाग द्वारा एकीकृत बुक्सा जनजाति क्षेत्रीय विकास परियोजना आफ बाजपुर, गदरपुर, रामनगर तथा काशीपुर, जिला नैनीताल में विस्तार से इस पर चर्चा की गई है। बुक्सा जनजाति की भूमि अन्य जातियों द्वारा अवैध रूप से हस्तगत करने हेतु निम्न विधियाँ अपनायी जाती है।

१. वर्तमान नियमों के अन्तर्गत भूमि का हस्तान्तरण।

२. भूमि का अवैध हस्तान्तरण तथा बलपूर्वक अतिक्रमण।

३. बड़ी परियोजनाओं हेतु भूमि का अधिग्रहण।

४. जनजातियों द्वारा भूमि विकास बैंक द्वारा लिये गये ऋण को न अदा करने पर निजी भूमि को नीलाम कराकर लेने की प्रक्रिया।

५. सेकेन्ड्री तथा ट्शरी एक्टीविटीज हेतु भूमि का अधिग्रहण।

ऋणग्रस्तता

बुक्सा जनजाति में ऋण ग्रस्तता की समस्या भी गम्भीर रूप से विद्यमान है। इसके जीवन यापन का प्रमुख साधन कृषि है और पूर्व में इन लोगों के पास भूमि की मात्रा अधिक थी तथा यह लोग उठाऊ खेती (शिफ्टिंग कल्टीवेशन) करते थे जिसमें यह लोग एक स्थान की भूमि की उर्वरा शक्ति कम होने पर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। यह क्षेत्र अधिकांश जंगल तथा जलवायु की दृष्टि से अनुकूल नहीं था क्योंकि मलेरिया का प्रकोप अधिक था जिसके कारण बाहरी लोग इस क्षेत्र में आने से उत्साहित नहीं थे लेकिन बुक्सा तथा थारू जनजातियों ने इन विकट परिस्थितियों में रहकर यह सिद्ध कर दिया कि इस क्षेत्र में रहकर जंगल साफ करके, कृषि करके जीवन यापन किया जा सकता है। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में बाहरी लोग जैसे पहाड़ी व अन्य जातियों के लोग आकर बसने लगे। बाहरी लोगों के आने के उपरान्त इस क्षेत्र में भूमि अतिक्रमण तथा सीधे-साधे बुक्सा परिवारों को प्रलोभन तथा आश्वासन देकर बाहरी लोगों ने कृषि योग भूमि पर कब्जे लेना प्रारम्भ किया। बुक्सा क्योंकि अधिकांशतः खेती पर निर्भर हैं तथा इनकी दैनिक आवश्यकताओं जैसे बीमारी, शादी, बच्चे का जन्म तथा मृत्यु आदि ऐसे अवसरों पर धन की आवश्यकता की पूर्ति हेतु ऋण लेने पर विवश होते रहते हैं पूर्व में ऐसा बताया गया कि यह लोग ऋण बंजारा जाति के लोगों से लेते थे जो ऋण की वापसी फसल के रूप में सूद सहित लेते थे। परन्तु जबसे बाहरी व्यक्ति इस क्षेत्र में आये तो

यह लोग ऋण पंजाबियों, स्थानीय बनियों एवं ठेकेदारों से लेने लगे और इसके बदले में अपनी जमीन रेहन तथा बँटायी पर देने लगे।

साक्षात्कार के दौरान पता चला कि सहकारी समितियों एवं भूमि विकास बैंक से लिये गये ऋण का प्रयोग इस कार्य के लिये नहीं किया गया जिसके लिये यह प्राप्त किया गया था, तथा इस ऋण को उन्होंने अन्य अनुत्पादक कार्यों में व्यय किया तथा कुछ मामले ऐसे भी प्रकाश में आये कि ऋण समय से अदा न होने पर सहकारी कर्मचारियों की सांठ-गांठ से प्रोनोट बदल कर अल्पकालीन ऋण को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण में परिवर्तन करा लिया गया।

कुल मिलाकर बुक्सा जनजाति का जीवन पहले की अपेक्षा सरल होता जान पड़ता है तथा वे सरकार की नई लागू की गई नीतियों एवं योजनाओं का लाभ उठाने लगे हैं, साक्षात्कार से ऐसा लगता है कि सरकार की योजनायें जो कि उनके लाभ के लिये बनी हैं, उससे पूर्ण रूप से लाभान्वित न होने की शिकायतें करते नजर आते हैं।

बुक्सा जनजाति का अपना सामाजिक जटिल बन्धन और ताना बाना, नई परिस्थितियों के अनुरूप बदल रहा है एवं उनके रोजगार एवं आर्थिक स्थिति पर भी उनके पेशे के बदलने से परिवर्तन देखा जा सकता है।

ग्रंथ सूची

१. 'एन ऐक्शन ट्राइबल डेवलपमेन्ट इन उत्तर प्रदेश,' प्लानिंग रिसर्च एण्ड ऐक्शन डिवीजन, स्टेट प्लानिंग इन्सटीट्यूट, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९७५, जून, प्रकाशन संख्या-४१३ पृष्ठ संख्या १६-२२।

२. ऐटकिन्सन, इ० टी०—'कुमायूँ हिल्स' १९८०, पृ० ३७१-३७३।

३. ऐनुअल ट्राइबल प्लान फार प्लेन एण्ड हिल रीजन, (१९८८-८९), हरिजन एवं समाज कल्याण विभाग, लखनऊ।

४. क्रुक, विलियम—'दि ट्राइबल एण्ड कास्ट्स आफ नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया' वाल्यूम II, १९७४, पृ० ५५-६१।

५. कान्त, के०—'बुक्सा : सांस्कृतिक परम्परा में बदलाव' प्रकाशित 'उत्तर प्रदेश' वर्ष ११, जुलाई १९८२, अंक २, पृ० ३३-३७।

६. चौहान, एच० एस०—'भोक्सा जनजाति' : एक मानव वैज्ञानिक अध्ययन प्रकाशित लेख 'मानव' वर्ष १५, अंक २-३ पृ० ११३।

७. जौनसारी, वतन सिंह—'उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ' १९८०, पृ० ५।

८. जैन, बी० सी०—नैनीताल जनपदान्तर्गत बाजपुर एवं रामनगर की भोक्सा जनजाति का समाजशास्त्री एवं सांस्कृतिक अध्ययन प्रकाशित 'मानव' वर्ष ४, १९७६, अंक १, जनवरी-जून, पृ० ४७-६५ ।

९. डबराल, एस० पी०—'उत्तराखण्ड का इतिहास' पार्ट-२, गढ़वाल ।

१०. नैनीताल गजेटियर—वाल्यूम XXXIV, १९२२, पृ० १०९-११० ।

११. पाण्डे, बी०—'कुमायँ का इतिहास' १९३७ पृ० ५५४-५५७ ।

१२. बहादुर, के० पी०—'कास्ट, ट्राइब्स एण्ड कल्चर आफ इन्डिया', वाल्यूम-५, उत्तर प्रदेश, १९७९, पृ० १९-२२ ।

१३. मजूमदार, डी० एन०—'दि फारच्यून्स आफ प्रीमिटिव ट्राइब', १९४४, पृ० ६६ ।

१४. रिपोर्ट आफ एस० टी०/एस० सी० रिसर्च एण्ड ट्रैनिंग इंस्टीट्यूट, यू० पी०, लखनऊ, नवम्बर, १९८७-८८, 'बुक्सा जनजाति का आर्थिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक सर्वेक्षण अध्ययन' ।

१५. सिसौदिया, डी० एस०—'राईजिंग सन आफ नैनीताल' सीरीज नं०-२४, पीपुल्स कालेज, हल्द्वानी ।

१६. सिंह, बी०—'पालिटिकल आर्गेनाइजेशन आफ ए नार्थ इण्डियन ट्राइब' प्रकाशित 'दि ईस्टर्न एथ्रोपोलोजिस्ट' वाल्यूम–XXII, सख्या ३ सितम्बर-दिसम्बर, १९६९, ई० एफ० सी० सोसाइटी, लखनऊ ।

१७. शुक्ला, रामजीत—'उत्तर भारत की बुक्सा जनजाति' १९८१, पृ० १-१० ।

१८. शुक्ला, रत्नाकर—'बुक्सा जनजाति : सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण' प्रकाशित–उत्तर प्रदेश, वर्ष ११, जुलाई, १९८२, अक २ पृ० ३८-३९ ।

१९. हसन, अमीर—'ए वन्च आफ वाइल्ड फ्लावर्स एण्ड अदर आर्टिकल्स' १९७१ पृ० १००, 'दि बुक्साज आफ दि तराई' १९७९, दिल्ली, पृ० २०-४७, 'मीट दि यू० पी० ट्राइब्स, १९८२ पृ० ३७-५३ ।

२०. हसनैन, नदीम—'ट्राइवल्स इंडिया टुडे', १९८९, हरनाम प्रकाशन, दिल्ली ।

संक्षिप्त-आलेख

ग्रामीण प्रवसन और नगरीय परिस्थितिकी

सय्यद हसन रज़ा

भारत में ग्रामीण प्रवसन की समस्या पिछले दो दशक से बहुत गम्भीर रूप धारण कर चुकी है। ग्रामीण प्रवसन से अभिप्राय बहुसंख्यक ग्रामवासियों का गांव को छोड़कर पास और दूर के नगरों में जाकर बस जाना है। ये प्रक्रिया औद्योगीकरण तथा प्रौद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ जटिल होती चली गई है। इस समस्या ने एक ओर ग्रामीण समाज तथा दूसरी ओर नगरीय समाज के लिए गम्भीर परिणाम उत्पन्न कर दिये हैं। वैयक्तिक तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी इस समस्या के नकारात्मक परिणाम उत्पन्न हुए हैं।

ग्रामीण प्रवसन का कारण भारत में गांवों की गरीबी है। कृषि की दशा भी दयनीय है, जिसका मुख्य कारण खेती के प्राचीन परम्परात्मक तरीके हैं। जो आज भी अधिकांश गांवों में विद्यमान हैं, जिसके कारण उपज भी कम होती है, तथा कृषकों को उनका मूल्य भी कम प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में "मार्गरेट मीड" ने अपनी एक पुस्तक में यह दर्शाया है कि भारत में ग्रामीणवासी खेती के परम्परागत तरीकों के प्रति अनावश्यक भावात्मक लगाव का प्रदर्शन करते हैं और खेती में नयी तकनीकों के समावेश का विरोध करते हैं।

ग्रामीण प्रवसन का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि रूढ़ीवादी और अंधविश्वासों के कारण जनसंख्या वृद्धि का धमाका अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में हुआ है, जिस प्रकार से गांव की जनसंख्या बढ़ी है उस प्रकार से वहां पर रोज़गार के अवसर उपलब्ध नहीं हुए हैं, इस प्रक्रिया ने भी ग्रामीण प्रवसन को बढ़ावा दिया है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री "ब्रेन डी टवायट" ने अपनी पुस्तक "माइग्रेशन एण्ड आरबनाइज़ेशन" (प्रवसन और नगरीकरण) में दर्शाया है कि बहुत से ग्रामीण गांव से नगरों की ओर इस लिये प्रवास करते हैं कि गांव की अपेक्षा नगरों में धन

सय्यद हसन रज़ा, शोध छात्र समाजशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

कमाने के साधन अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। वे केवल धन कमाने के लिये ही गांवों को छोड़कर नगरों की ओर प्रवास करते हैं।

इस प्रकार ग्रामीण श्रमिकों के एक विशाल जनसमुदाय के नगरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में आ जाने से इन स्थानों पर जनसंख्या का घनत्व बढ़ गया है। साथ ही साथ अपराध, गन्दी बस्तियां तथा दूषित पर्यावरण की समस्या ने नगरों की सुन्दरता नष्ट कर दी है। "सर विलियम बेवरिज" ने इस नई समस्या के परिपेक्ष्य में यह कहा था कि पांच राक्षसों ने नगरों और औद्योगिक केन्द्रों में एक विशाल जनसमुदाय को अपने पंजों में जकड़ लिया है ये पांच राक्षस हैं, बेरोज़गारी, गरीबी, बीमारी, गन्दगी और अज्ञानता। इन पांच राक्षसों के चंगुल से जनसमुदाय को छुड़ाने के लिए इन्होंने कल्याणकारी राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की थी।

ग्रामीण प्रवसन के पश्चात् ग्रामीण श्रमिकों को नगरों में अनेक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वे अनाधिकृत स्थानों पर गन्दी बस्तियां बसा कर तथा सड़कों के किनारे और फुटपाथों पर रहते हैं। लगातार परिश्रम करने तथा आराम न मिलने के कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है जिसके कारण उन्हें अनेक भयानक बीमारियों का सामना करना पड़ता है। आराम न मिलने के कारण उनमें मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक तनाव और आर्थिक दबाव बना रहता है जिसको दूर करने के लिये ये अनेक नशीले पदार्थ जैसे बीड़ी, गांजा, चरस तथा ताड़ी या शराब का सेवन करते हैं। इस प्रकार से वे आर्थिक, शारीरिक और मानसिक रूप से जर्जर हो जाते हैं।

इस समस्या की सबसे दुखदायी छवि यह है कि वे अपने को दो सांस्कृतियों के बीच लटका हुआ महसूस करते हैं क्योंकि नगर और गांवों की संस्कृतियों में अन्तर विद्यमान है। "स्टोन कुइस्ट" ने अपनी पुस्तक "द मारजिनलमैन" तथा "थामस और नैनिकी" ने अपनी पुस्तक "द पालिश पीज़ेंट" में इस दुखदायी समस्या का वर्णन किया है और इस दो संस्कृतियों के संघर्ष को (कल्चरलक्लैश) कहा है।

इस दुखदायी समस्या के समाधान के लिए हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने एक योजना बनाई थी कि भारतवर्ष के गांवों में कुटीर उद्योगों की स्थापना की जाये अनेक औद्योगिक केन्द्र बनाए जाएं तथा ग्रामीण श्रमिकों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाये जिससे उन्हें जीविका कमाने के अनेक साधन गांवों में उपलब्ध हो जाएं और वे नगरों की ओर प्रवास न करें तथा गांवों को इतना सुन्दर बना दिया जाए कि उनकी सुन्दरता तथा शुद्ध पर्यावरण से आकर्षित होकर नगर वासी शुद्ध पर्यावरण प्राप्त करने के लिए गांव की ओर प्रवास करें परन्तु उनकी सरकार की सत्ता समाप्त होने के साथ-साथ ये योजना भी समाप्त हो गई।

इस प्रकार भारत के नगरों की परिस्थितिकी दूषित होने का मुख्य कारण ग्रामीण प्रवसन है। ग्रामीण प्रवसन के कारण नगरों में जनसंख्या का घनत्व बढ़ रहा है गन्दी बस्तियां बस रही हैं, जिससे नगरों का वातावरण दूषित होने के साथ-साथ प्रदूषण ने भी सक्रिय रूप धारण

कर लिया है, जिसके फलस्वरूप नगरों में समय-समय पर भयानक बीमारियाँ उत्पन्न होती रहती हैं ।

इस गम्भीर सामाजिक समस्या के समाधान के लिये हमारी सरकार को गांवों में कुटीर उद्योगों औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना करनी चाहिये, जिससे ग्रामीण श्रमिकों को अपनी जीविका कमाने के अनेक साधन गांव में ही उपलब्ध हो जाएं और वे नगरों की ओर प्रवास न करें विशेष रूप से स्वास्थ्य सेवाओं तथा परिवार नियोजन कार्यक्रम के प्रति अधिक जागरूकता दिखानी चाहिये जिससे जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सके, इसके अतिरिक्त गांव को स्वच्छ और सुन्दर बनाने का भी प्रयत्न किया जाए, जिससे कि नगरों का सौन्दर्यात्मक आकर्षण गांववासियों के लिये कम हो सके ।

बाल-श्रमिक : समस्या और निदान

आर. बी. ताम्रकार

बच्चे ही मानव इतिहास के भावी निर्माता होते हैं। इसी कारण इन्हें राष्ट्र की वास्ताविक शक्ति एवं सम्पत्ति माना जाता है। यही राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के प्रथम सोपान हैं। किसी भी राष्ट्र या समाज के बच्चों की स्थिति अच्छी या बुरी होना सभ्यता के विकास का प्रतीक होता है। किन्तु यह अत्यन्त कटु सत्य है कि भारतीय समाज में इन भावी राष्ट्र निर्माताओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय, सोचनीय व विचारणीय है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भारतीय समाज अनेक समस्याओं के घेरे में कैद था। जैसे ही स्वतंत्रता प्राप्त हुई राष्ट्र निर्माताओं ने इन समस्याओं के अम्बार को खत्म करने हेतु भरसक प्रयास किये। इसी सन्दर्भ में बच्चों की स्थिति परिवर्तित करने हेतु भी अनेक प्रयास हुए। किन्तु कोई भी प्रयास पूर्णतः सफल नहीं हो सका। जिसका प्रमुख कारण निर्धनता एवं अशिक्षा रूपी कोढ़ से भारतीय समाज ग्रसित था। सभी माता-पिता अपनी सन्तान के उज्जवल भविष्य की आशाएं सजोये रहते हैं तथा अपनी शारीरिक, मानसिक व आर्थिक स्थिति के अनुसार उन्हें सम्मानित जीवन बिताने हेतु प्रयास करते हैं। किन्तु परिवार की सीमित आय, अत्याधिक मंहगाई, परिवार पर सदस्यों का अधिक बोझ व अशिक्षित होने के कारण समाज के एक बड़े भाग के सदस्य मजबूरी वश अपने बच्चों को मजदूरी करने हेतु प्रेरित करते हैं। जिस समय बच्चों को शिक्षा रूपी मंदिरों में पहुँच कर ज्ञान उपार्जन करना चाहिए तथा जिस समय बच्चों को शारीरिक स्वास्थ्य सुधारने हेतु खेल के मैदानों में रहना चाहिए बेचारे ये बच्चे उस वक्त मजदूरी करते हुए अपने परिवार की आर्थिक स्थिति सुधारने में जुट जाते हैं।

समसामयिक परिपेक्ष्य में किसी भी नगर, महानगर व ग्रामों में इन भावी राष्ट्र निर्माताओं को मजदूरी करते हुए अवलोकन किया जा सकता है। मुख्यतः इन्हें होटलों, रेस्टोरेटों, चाय-पान की दुकानों, साईकिल, ट्रैक्टर, मोटर सुधारने वाली दुकानों, बीड़ी उद्योग व अगरबत्ती फैक्टरियों में देखा जा सकता है। अधिकांशतः बाल श्रमिक उन उद्योगों व

डा० भार० बी० ताम्रकार, समाजशास्त्र विभाग, यू० टी० डी०, सागर (म० प्र०)

व्यवसायों में दिखाई देते हैं, जिनमें कम शक्ति व कम निपुणता की आवश्यकता होती है। इन उद्योगों एवं व्यवसायों के संचालक इस मनोविज्ञान को बड़ी गंभीरता से समझते हैं कि बच्चों से मजदूरी कराने से कम मजदूरी या पारश्रमिक देकर इन से अधिक कार्य लिया जा सकता है क्योंकि इनमें सोचने व समझने की क्षमता का जन्म नहीं हो पाता। सुबह से शाम तक मजदूरी करना ही इनकी नियति बन जाता है। तथा इनमें श्रम संगठन जैसी कोई शक्ति नहीं होती जो इनके शोषण के प्रति कभी आवाज उठा सके। बाल श्रमिकों के साथ एक महत्वपूर्ण-तथ्य यह भी जुड़ा होता है कि ये अज्ञान व अबोध के कारण अच्छे बुरे की समझ से परे रहते हैं और इनकी सोच मजदूरी करना व पारश्रमिक प्राप्त करने तक ही सीमित रहती है।

(१) शासकीय प्रयास : एक असफल प्रयोग

भारतीय समाज में जब बाल श्रमिकों का अस्तित्व स्पष्ट उभरकर सामने आया तो इन भावी राष्ट्र निर्माताओं तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति को बचाने व बरबादी से रोकने हेतु समय-समय पर शासकीय प्रयास किये गये जिनमें एम्प्लायमेंट ऑफ चिल्ड्रेन एक्ट (१९३६), फैक्टरी एक्ट (१९४०), प्लांटेशन लेबर एक्ट (१९५१), माइस एक्ट (१९५२), मर्जेन्स सीमेन शिपिंग एक्ट (१९६१), मोटर एन्टवोर्ट वर्क्स एक्ट (१९६१), बीड़ी एण्ड सिगार वर्क्स कंडीशन ऑफ एम्प्लायमेंट एक्ट (१९६६), रेडीयेशन प्रोटेक्शन रूल्स (१९९१), तथा एटामिल एन० बी० एक्ट (१९७२), प्रमुख हैं। जिनमें यह स्पष्ट किया गया कि १४–१५ वर्ष का बच्चा मजदूरी नहीं कर सकता और न ही उसे मजदूरी दी जानी चाहिए। वास्तविकता यह है कि कानून का बनाना एक अलग पक्ष है जबकि उनका सुचारु रूप से क्रियान्वयन होना एक अलग पक्ष है। विषय समस्या पर भी यही बात लागू हुई। समाज के दोनों पक्षों (बालश्रमिकों तथा उद्योग व व्यवसाय के संचालकों) के लिए उक्त कानून केवल मात्र कानूनी पुस्तकों की शोभा बढ़ाने हेतु रह गये। यदि सार रूप में कहा जाये जो अभी तक के किये गये सभी शासकीय प्रयासों को समाज ने अस्वीकार कर दिया तथा ये सभी प्रयास असफल प्रयोग साबित हुए।

(२) बाल श्रमिकों की समस्याएं

दिनभर मजदूरी करने के उपरान्त इन बच्चों में शारीरिक रूप से इतनी शक्ति नहीं बचती कि ये अन्य प्रकार का कार्य कर सकें इसके अतिरिक्त शिक्षा प्राप्त करने के लिए न तो इनकी रुचि ही रह जाती है और न ही इनका मस्तिष्क इनका साथ दे पाता है। अतः अज्ञानता व अबोधता के फलस्वरूप उठाया गया कदम जीवन पर्याप्त इन्हें मजदूरी करने को विवश कर देता है। बालश्रमिकों से इनके मालिक ऐसे बहुत से कार्य सम्पादित कराते हैं जिसको कराने में इन्हें अन्य श्रमिकों को बाल मजदूर की अपेक्षा दुगना और तिगुना भुगतान करना पड़ सकता है। उदाहरण के रूप में यदि किसी होटल या रेस्टोरेन्ट में जो बाल श्रमिक कार्य करता है उसे सुबह ७ बजे से रात्रि ११ बजे तक कार्य करने की मजदूरी औसतन १०.०० रुपया

मिलती है। होटल या रेस्टोरेन्ट मालिक उससे ऐसे भी कार्य कराते हैं जिसकी मजदूरी किसी अन्य श्रमिक को कम से कम २५ या ३० रु० देता है। इस प्रकार भी बालश्रमिकों का शोषण किया जाता है। इसके अतिरिक्त बालश्रमिकों के कार्य करने की कोई निश्चित नियमावली नहीं होती, अतिरिक्त कार्य करने पर इन्हें अतिरिक्त भुगतान नहीं किया जाता। तथा इनके कार्य में कभी भी किसी प्रकार के अवकाश की कोई व्यवस्था नहीं रहती यदि एक वर्ष लगातार कार्य करने के उपरान्त बीमारी, अस्वस्थता या अन्य किसी कारणवश बालश्रमिक २–४ दिन भी कार्य पर नहीं आता तो उसको मजदूरी नहीं दी जाती कभी-कभी तो यह देखा गया कि उन्हें कार्य से ही अलग कर दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि बालश्रमिकों को कार्य (मजदूरी) देना इनके ऊपर अहसान करना माना जाता है अर्थात बालश्रमिकों का कार्य मांग और पूर्ति पर आश्रित रहता है। इन्हें किसी भी समय या आवश्यकता समाप्त हो जाने पर कार्य से अलग कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त बीमारी, दुर्घटना के वक्त इन्हें किसी प्रकार का सहयोग नहीं दिया जाता। बोनस प्राप्त करना तो बालश्रमिकों के भाग्य में ही नहीं।

(३) बाल श्रम के दुष्परिणाम

बाल श्रम करने के कारण बच्चों का मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। जो समय ज्ञान प्राप्त करने कर बौद्धिक उन्नति करने का होता है, ये बेचारे अपनी व परिवार की उदर पूर्ति हेतु पैसा कमाने में लगा देते हैं। धीरे-धीरे कालान्तर में कला, ज्ञान और साहित्य के प्रति इनकी रुचि समाप्त हो जाती है। एक दुष्परिणाम यह परिलक्षित होता है कि शारीरिक परिपक्व न होने के कारण तथा अधिक श्रम करने के कारण इनकी मांसपेशियां विकृत हो जाती हैं। इनका शारीरिक व मानसिक विकास उतनी तीव्र गति से नहीं हो पाता जितना उनकी उम्र के सम्पन्न परिवार के बच्चों का होता है। कालन्तर में ये शारीरिक रूप से कमजोर व बीमार रहने लगते हैं। अज्ञानता व अशिक्षा के कारण ये न तो पौष्टिक आहार जानते हैं, तथा निर्धनता के कारण न ही इन्हें वह प्राप्त हो पाता है फलस्वरूप शारीरिक विकास रुक जाता है। मजदूरी करते समय चूंकि इनका सम्पर्क सभी वर्ग के व्यक्तियों से होता है अतः गालीगलौज, अपशब्दों का प्रयोग एवं बहुत सी अन्य बुराइयां इन्हें घेरने लगती हैं जो इनके आगे के सम्पूर्ण जीवन में दीमक की तरह लग जाती है और धीरे-धीरे इन्हें खोखला करती रहती है।

(४) नियंत्रण एवं निरोध

प्रस्तुत विवेचन से वर्तमान परिस्थितियों में बालश्रमिकों का उन्मूलन करना न तो संभव है, और न ही उचित है। संभव न होने का प्रमुख कारण यह है कि बालश्रम द्वारा प्राप्त मजदूरी देश के लाखों, करोड़ों परिवार की आय का मुख्य स्रोत है, अतः जब तक व्यक्ति निर्धनता रूपी अन्धकार में रहने को मजबूर है, तब तक शासन द्वारा बनाए गये कोई भी नियम समाज के सदस्य स्वीकार नहीं करेंगे। उचित इस कारण से नहीं कहा जा सकता है कि

बाल श्रमिकों से गरीब, निर्धन व मजदूर परिवार के सदस्यों को जो अतिरिक्त सहयोग/आर्थिक सहयोग मिलता है, यदि शासन कड़ाई से नियमों का पालन करने लगे तो यह अतिरिक्त सहयोग बन्द हो जायेगा जिससे इन लाखों व करोड़ों परिवारों के सामने एक नवीन समस्या का जन्म होगा दूसरी ओर बाल अपराधों की अत्यधिक मात्रा में वृद्धि होने लगेगी इसका मुख्य कारण गरीब, निर्धन व मजदूर परिवार में जब दो वक्त की रोटी जुटाना ही एक समस्या होगी तो यह कैसे उम्मीद की जा सकती है कि ये परिवार के सदस्य बच्चों को स्कूल भेजेंगे ? परिणाम स्वरूप दिन भर आवारागर्दी करते रहेंगे और धीरे-धीरे असामाजिक कृत्यों की ओर आकर्षित होने लगेंगे।

विषय-समस्या पर गंभीर चिन्तन कर कम करने का उपाय अवश्य लाभदायक हो सकता है। राष्ट्र के कोने-कोने में निशुल्क शिक्षा तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था शासन को करनी चाहिए। मजदूर, निर्धन व गरीब परिवार के सदस्यों को स्कूल में पौष्टिक भोजन व कपड़ा निशुल्क दिया जाना चाहिए तथा गरीब बच्चों को इतनी सहयोग राशि देकर, जिससे उनके परिवार के सदस्य ही अपने बच्चों को शिक्षा रूपी मंदिर तक लाने को तैयार हो, प्रोत्साहित करना चाहिए। विषय-समस्या को रोकने हेतु यह भी आवश्यक है कि जिन क्षेत्रों में, संस्थाओं में, बच्चे कार्य या मजदूरी करते हैं, उन संस्थाओं के अधिकारियों को बाल-श्रमिकों के लिए वे सभी आवश्यक सुविधाएं देने हेतु बाध्य करने हेतु शासन को यथाशीघ्र कठोर कदम उठाना चाहिए, अलग से और गुप्त रूप से ऐसे स्थानों की छानबीन करवाने हेतु समाजशास्त्रियों को टीम का सहयोग लेना चाहिए तभी इन भावी राष्ट्र निर्माताओं को, इन सामाजिक बुराईयों, इस समस्या से राष्ट्र को बचाया जाना संभव हो सकता है।

दुर्खीम का समाजशास्त्रीय चिन्तन–
एक समालोचनात्मक संदर्श

मेराज अहमद

दुर्खीम ने अपना शैक्षिक जीवन पैरिस में १८८१ के लगभग दर्शन के अध्यापक के रूप में प्रारम्भ किया। समाजशास्त्र में उनकी रुचि को मार्क्स की समाजवादी विचारधारा तथा शैफिल के समाज के सावयवी सिद्धान्त ने संप्रेरित किया। वह कोंत, स्पेन्सर, ट्रानीज, डी० बोनाल्ड, डी० मेस्ट्रे तथा डी० राबर्टी के चिन्तन से घनिष्ठ रूप से प्रभावित थे। कोंत के सामाजिक चिन्तन ने दुर्खीम के लिए सकारात्मक प्रसंग का निर्माण किया। कोंत का प्रभाव इतना अधिक था कि दुर्खीम जीवन भर इससे अपने को मुक्त करने में लगे रहे। इसी कारणवश गोल्डनर ने दुर्खीम को "व्याकुल कोंतवादी" की संज्ञा दी है। मार्क्स की समाजवादी विचारधारा उनके लिए नकारात्मक प्रसंग का स्थान रखती थी जिसके प्रत्युत्तर स्वरूप उन्होंने वर्ग संबंधों तथा वर्ग संघर्षों के निहितार्थों जिनका मार्क्सवाद में केन्द्रीय स्थान रहा है, को त्यागते हुए सावयवी एकता पर आधारित सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जेटलिन ने दुर्खीम के चिन्तन को मार्क्स के भूत के साथ विवाद बताया है। दुर्खीम ने समाजवाद में गहरी रुचि ली थी और इसका विस्तृत अध्ययन किया था परन्तु इसका लक्ष्य समाजवाद का समर्थन या इस विचारधारा को आगे बढ़ाना नहीं था बल्कि इसका खण्डन करना और इसके प्रत्युत्तर स्वरूप एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत करना था।

दुर्खीम का समूहवाद

दुर्खीम समाजशास्त्रीय वास्तविकतावाद के समर्थक थे। उन्होंने समाज को एक परम वास्तविकता के रूप में देखा और उसके लिए एक स्वाधीन चेतना, इच्छा और नैतिकता की धारणा की। दुर्खीम ने समाज से जिस वास्तविकता और महत्व को सम्बन्धित किया है उसको दर्शाने के लिए ही इमाइल बेनोय इस्मुलियन ने "समूहवाद" के प्रत्यय की रचना की थी।

डा० मेराज अहमद, रीडर, समाजशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

इस प्रत्यय से तात्पर्य वह सिद्धान्त है, जो समाज को अपने प्रकार की अकेली वास्तविकता के रूप में देखता है और सामाजिक समूह को व्यक्ति पर कारणात्मक प्राथमिकता प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समूह व्यक्ति से पूर्व है और उसकी संस्कृति तथा उच्चर मूल्यों का स्रोत है। सामाजिक परिस्थितियां एवं परिवर्तन व्यक्तियों की इच्छाओं और प्रेरणाओं से उत्पन्न नहीं होती और न ही इनसे प्रभावित होती हैं।

दुर्खीम ने अपने सिद्धान्तों में सामाजिक घटनाओं और कारकों को जो महत्व दिया है उसी के कारण यह कहा जाता है कि दुर्खीम ने समाजशास्त्र से आगे बढ़कर समाजशास्त्रवाद की रचना की है। समाजशास्त्रवाद का अभिप्राय यह है कि दुर्खीम ने सभी सामाजिक घटनाओं एवं परिवर्तनों को केवल समूह सम्बन्धी या सामाजिक कारकों द्वारा ही दर्शाने का प्रयास किया है और इन घटनाओं की उत्पत्ति में आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक कारकों की भूमिका को महत्व नहीं दिया है। दुर्खीम का यह तर्क था कि किसी भी सामाजिक घटना, चाहे वह धर्म की उत्पत्ति हो, या आत्महत्या या श्रम विभाजन की, किसी ऐसे कारक जो निम्नतर स्तर का है, के माध्यम से विश्लेषित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य इस बात की मांग करता है कि जिस स्तर की घटना है, उसी स्तर का कारक भी होना चाहिए। उदाहरणार्थ श्रम विभाजन एक सामाजिक घटना है और इस घटना को मनोवैज्ञानिक कारक जो कि वैयक्तिक कारक होने के नाते एक निम्न स्तर का कारक होगा के माध्यम से नहीं दर्शाया जा सकता, जैसा कि कतिपय विद्वानों ने दर्शाने का प्रयत्न किया था और यह स्पष्ट किया था कि मनोवैज्ञानिक संतोष या प्रसन्नता में वृद्धि की इच्छा श्रम विभाजन में होने वाली वृद्धि को निर्धारित करती है। क्योंकि श्रम विभाजन एक सामाजिक स्तर की घटना है इसलिए उसको नियंत्रित करने वाला कारक भी उसी स्तर का या सामाजिक होना चाहिए तभी समाज में अस्तित्वमान कारण-परिणाम सम्बन्धों पर उचित प्रकाश पड़ सकता है। इस प्रकार सामूहिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक तथ्यों को दुर्खीम ने सभी महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाओं को नियंत्रित करने वाले कारक के रूप में देखा है। यही अभिगम उन्होंने अपने सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में अपनाया है।

यहां हमारा लक्ष्य दुर्खीम के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना करना नहीं है क्योंकि इनके ऊपर पर्याप्त रूप में लिखा जा चुका है। इस स्थल पर हमारा लक्ष्य इसका निश्चय करना है कि दुर्खीम की समाज की अवधारणा क्या थी और समाज तथा व्यक्ति का सम्बन्ध उनके लिए क्या था? अगर हम दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों का गहराई से अन्वेषण करें तो हमको विदित होगा कि उन्होंने समाज को वही स्थान दे दिया है जो धर्म ईश्वर को देता है। जिस प्रकार धर्म ईश्वर को अन्तिम कारण के रूप में देखता है उसी प्रकार दुर्खीम ने समाज को देखा है। समाज एक स्वाधीन वास्तविकता है और एक स्वाधीन चेतना एवं नैतिकता रखता है। यह वास्तविकता, चेतना और नैतिकता व्यक्तियों की वास्तविकता, चेतना और नैतिकता का परिणाम नहीं है और न ही उनका योग है। इस प्रकार दुर्खीम की

समाज की अवधारणा तात्विक प्रकृति की है और यह राज्य की प्रकृति की उस अवधारणा से मिलती जुलती है जिसको पहले हीगल तथा इसके उपरान्त बोसान्के ने प्रस्तुत किया था। इन विचारकों ने राज्य को धरती पर एक दैवी अभिकरण या नैतिक विचार के रूप में देखा था और इसकी प्रत्येक आज्ञा एवं आदेश का पालन करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य बताया था। इसी प्रकार समाज के लिए वास्तविकता, बाह्यता तथा बाध्यता की अवधारणायें प्रस्तुत करके दुर्खीम ने इसको इतना ऊँचा उठा दिया कि यह वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से निकल कर तात्विक परिप्रेक्ष्य में पहुँच गया है। दुर्खीम का अध्ययन करने के उपरान्त यह विचार उत्पन्न होता है कि समाज तथा उसके सामूहिक प्रतिनिधित्व बाहर से व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से बाध्य, नियंत्रित एवं संचालित करते हैं। दुर्खीम के सिद्धान्त के राजनैतिक निहितार्थ मार्क्स के सिद्धान्त के निहितार्थों से अधिक गम्भीर हो सकते हैं क्योंकि दुर्खीम ने एक प्रकार से समष्टिवादी दृष्टिकोण को अपनाया है और व्यक्ति को समाज की तुलना में महत्व न देते हुए उसको समाज के अधीन कर दिया है। मार्क्स ने सम्पूर्ण समाज के महत्व को स्वीकार करने के पूर्व सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के अस्तित्व को माना है जबकि दुर्खीम ने अपने चिन्तन के प्रारम्भ से ही समाज को व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है और समाज को एक देवता का स्थान दे दिया है।

व्यक्ति की तुलना में समाज को अधिक महत्व प्रदान करने के क्षेत्र में दुर्खीम हिन्दुत्व और इस्लाम से भी प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। यद्यपि न तो दुर्खीम ने स्वयं और न ही उनकी विचारधारा के विश्लेषणकर्ताओं ने इस तर्क की ओर संकेत किया है। हिन्दू धर्म मूलरूप में समूह या समाज को व्यक्ति पर प्राथमिकता देने वाला धर्म है। प्रत्यक्षवादी सावयववादियों ने समाज के लिए जिस सावयवी उपागम का उपयोग किया है वह कोई नयी बात नहीं। आज से हजारों वर्ष पूर्व भी समाज के लिए एक सावयव होने की धारणा की जाती रही है। हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थ ऋग्वेद में समाज के लिए एक बृहद् पुरुष होने की धारणा की गयी है और ब्राह्मणों को इस पुरुष के मुख, क्षत्रियों को इसकी भुजाओं, वैश्यों को इसके उदर और जांघों तथा शूद्रों को इसके पैरों के रूप में चित्रित किया गया है। समाज के इन चारों वर्णों के बीच एक सावयवी समेकता की धारणा की गयी है और इनको प्रकार्यात्मक सम्बन्ध में पिरोया हुआ दर्शाया गया है। हर वर्ण के सदस्यों के लिए अधिकारों और दायित्वों की व्यवस्था की गयी है जिससे कि समाज व्यवस्था सुचारु ढंग से चलती और आगे बढ़ती रहे। केवल इतना ही नहीं बल्कि समाज को ब्रह्माण्डीय और प्राकृतिक समष्टि के एक एकीकृत भाग के रूप में देखा गया है और इसीलिए ब्रह्माण्डीय एवं प्राकृतिक शक्तियों एवं वस्तुओं के प्रति भी मानव प्राणियों के कुछ उत्तरदायित्व बताये गये हैं। यह एक अत्यन्त प्राचीन सावयववादी एवं समष्टिवादी विचारधारा रही है। क्योंकि जर्मनी और फ्रांस में इण्डालोजी के क्षेत्र में विशेष रुचि का प्रदर्शन किया गया है, इसलिए इस बात की पूरी सम्भावना है कि दुर्खीम पर भी इसका प्रभाव पड़ा हो।

इस क्षेत्र में दुर्खीम इस्लाम से भी प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। इस्लाम ने बहुत पहले व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए व्यक्ति की तुलना में समाज को अधिक महत्वपूर्ण बताया था। इस्लाम में हर महत्वपूर्ण निर्णय और क्रिया के क्षेत्र में दूसरों के महत्व को ध्यान में रखे जाने पर बल दिया गया है। जिस तत्व को 'मीड' ने "दि सिग्नीफकेन्ट अदर्स" कहा है, उसको इस्लामी धार्मिक आचारसंहिता में प्राथमिक स्थान दिया गया है। किसी भी निर्णय से पूर्व व्यक्ति द्वारा दूसरों से सलाह-मशविरा करने पर बल दिया गया है। नातेदारों, सगे-सम्बन्धियों, पड़ोसियों तथा समाज के दूसरे आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों का समुचित ध्यान रखे जाने पर जोर दिया गया है। नमाज, हज और जक़ात तीनों ही धार्मिक कर्त्तव्यों के क्षेत्र में सामूहिकता के विचार को प्रोत्साहित किया गया है। एकान्त में नमाज पढ़ने की तुलना में मस्जिद में दूसरे व्यक्तियों के साथ नमाज पढ़ने को उच्चतर माना गया है जिससे की सामूहिकता की भावना बनी रहे और व्यक्ति को अलगाव से बचाया जा सके। इसी प्रकार हज भी एक ही दिन समूह के साथ करने पर विशेष बल दिया गया है जिससे कि अंतर्देशीय और अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक सम्बन्ध मजबूत रहें। इस्लामिक धार्मिक संहिता में व्याप्त सामूहिकता के विचार की प्राथमिकता को दर्शाते हुए इक़बाल ने कहा है :

फर्द क़ायम रब्ते मिल्लत से है तन्हां कुछ नहीं।
लौज है दरिया में, और बैरुने दरिया कुछ नहीं।।

अर्थात् व्यक्ति का महत्व समूह में उसकी सम्मिलित के कारण ही है। अकेले उसका महत्व कुछ नहीं है। उसी प्रकार जैसे मौज (लहर) जब तक नदी में होती है तब तक उसका अस्तित्व होता है। दरिया (नदी) से अलग होकर उसका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। यह एक समूहवादी या समष्टिवादी विचारधारा रही है जिसका स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव दुर्खीम पर दिखाई पड़ता है। केवल दुर्खीम ही नहीं, मार्क्स भी इससे प्रभावित दिखाई देते हैं।

दुर्खीम का पद्धतिशास्त्र

इनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में रहा है जिसको इन्होंने अपनी पुस्तक "दि रूल्स आफ सोश्योलाजिकल मेथड" में प्रस्तुत किया है। सामाजिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में दुर्खीम ने कोंत और मार्क्स के मध्य का स्थान अपनाया है। पद्धति शास्त्र के क्षेत्र में दुर्खीम कठोर प्रत्यक्षवादी हैं। इन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए तात्विक तथा काल्पनिक दृष्टिकोण के स्थान पर कठोर प्रत्यक्षवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है यद्यपि उनके यहाँ स्वयं इस दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है जिसके कारण उनके समाजशास्त्र के लिए समूहवाद और समाजशास्त्रवाद जैसी प्रत्ययों की रचना करके आरोप लगाने का प्रयास किया गया है। दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए जो पद्धति प्रस्तुत की है उसमें तीन सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं। प्रथम यह कि भ्रम, संदेह और काल्पनिक तत्व से बचने के लिए सामाजिक घटनाओं को मूर्त वस्तुओं के रूप में देखा जाय जिससे कि

उनका यथार्थ और वस्तुगत अध्ययन संभव हो सके । द्वितीय यह कि किसी भी सामाजिक तथ्य की व्याख्या उससे निम्नतर स्तर के कारक द्वारा न की जाय क्योंकि ऐसा करना तार्किक दृष्टिकोण से अनुचित होगा । इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक सामाजिक तथ्य या घटना की व्याख्या किसी दूसरे सामाजिक तथ्य या घटना के माध्यम से ही की जा सकती है । यह नियम निर्धारित करके दुर्खीम ने समाजशास्त्र को मनोविज्ञान एवं अर्थशास्त्र के आक्रमण से बचाने का प्रयत्न किया है परन्तु ऐसा करके उन्होंने स्वयं एक वाद की रचना करदी है जिसको समाजशास्त्रवाद कहा जाता है । एक त्रुटि को दूर करने के लिए वह दूसरी त्रुटि कर बैठे हैं । उन्होंने समाज को अत्यधिक महिमान्वित कर दिया है और समाज की अवधारणा को वैज्ञानिक क्षेत्र में सफल होने के बजाय उसको तात्विक क्षेत्र में पहुँचा दिया है । तृतीय यह कि समाज के किसी एक क्षेत्र विशेष को किसी दूसरे क्षेत्र विशेष में होने वाले परिवर्तन का कारक मानने के स्थान पर इस सिद्धान्त से काम लिया जाय कि समाज अनेक घटनाओं, भागों तथा उपव्यवस्थाओं के घनिष्ठ रूप में एकीकृत एक सावयवी व्यवस्था है । अतः यदि एक क्षेत्र में परिवर्तन घटित होता है तो दूसरे क्षेत्रों में साथ-साथ परिवर्तन होगा । इसलिए दुर्खीम ने कारण-परिणाम की प्राचीन अवधारणाओं को त्यागते हुए सामाजिक कारणतावाद के क्षेत्र में सहगामी रूपान्तर पद्धति का नियम प्रस्तुत किया है । स्मरण रहे कि पारेटो ने भी अपने पद्धतिशास्त्र में अन्य नियमों के साथ-साथ इस नियम के अपनाये जाने पर बल दिया है ।

दुर्खीम के सिद्धान्तों तथा उस पर की गयी टिप्पणियों का समालोचनात्मक अध्ययन करने के तदुपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि दुर्खीम के आलोचकों ने इनके चिन्तन में व्याप्त अनेक त्रुटियों की ओर संकेत किया है और इसके विरुद्ध समाजशास्त्रवाद इत्यादि अनेक आरोप लगाये हैं परन्तु वास्तव में दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त तथा समाज के अध्ययन के लिए अपनाये गए अभिगम ने समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र तथा यथार्थ विज्ञान के रूप में प्रतिस्थापित करने में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है और सामाजिक कारकों जिनको पहले पर्याप्त महत्व नहीं दिया जाता था, उनको उनका वास्तविक एवं उचित स्थान दिलाने में उल्लेखनीय कार्य किया है ।

संदर्भ ग्रन्थ

१. दुर्खीम, इमाइल — दि रूल्स आफ सोशियालोजिकल मेथेड ।
२. ,, ,, — दि डिवीजन आफ लेबर इन सोसायटी ।
३. ,, ,, — दि एलीमेन्ट्री फार्म्स आफ रिलीजियस लाइफ ।
४. ,, ,, — एजूकेशन एण्ड सोशियालोजी ।
५. ,, ,, — मारल एजूकेशन ।

६. ,, ,, — सोशलिज्म एण्ड सेण्ट-साइमन।

७. वूल्फ. के० (संशोधित) — इमाइल दुर्खीम (१९६०)।

८. निस्वत, आर० ए० — इमाइल दुर्खीम (१९६४)।

९. एल्पर्ट, एच० — इमाइल दुर्खीम एण्ड हिज सोशियालोजी (१९३९)।

१०. गुरविच, जी० — एसेज डि सोशियालोजी (१९३६)।

११. इकबाल, मोहम्मद, सर — रिकन्सट्रक्शन आफ रिलीजियस थाट इन इस्लाम।

१२. इकबाल, मोहम्मद, सर — मिल्लते बैज़ा पर एक इमरानी नज़र।

१३. राधाकृष्णन, एस० — दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ।

१४. शर्मा, सेवाराम — बेसिक कन्सेप्ट आफ सोशियोलोजी-दि हिन्दू व्यू।

१५. बोगार्डस, ई० एस० — दि डेवलपमेण्ट आफ सोशल थाट।

१६. जीटलिन, आई० एम० — आइडियालोजी एण्ड दि डेवलपमेण्ट-आफ सोशियालोजिकल थ्योरी।

कारागारों में शिक्षा : लक्ष्य और औचित्य

निर्मला

शिक्षा प्रत्येक युग में मानव जाति की प्रगति का आधार रही है, इस प्रबल माध्यम से ही मनुष्य में मनुष्यता का विकास हुआ है। शिष्टाचार, नैतिक आचरण, कर्त्तव्य-पालन, अनुशासन, धर्माचरण तथा आत्म–सुधार जो कि मानव निर्माण का पहला संकल्प है शिक्षा के द्वारा ही जाग्रत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] शिक्षित व्यक्ति को स्वतन्त्र, समृद्ध एवं अनुकरणीम बताता है। आत्म-संयम, आत्मनिर्भरता, आत्म विश्वास, आत्म-निरीक्षण—यह सब शिक्षित व्यक्ति के लिये सहज हो जाते हैं। आधुनिक सभ्यता में शिक्षा की विशेष आवश्यकता को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है, अतः इस क्रान्तिकारी तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती है कि जन सामान्य की शिक्षा के साथ कैंदियों को भी शिक्षा दिये जाने के विचार को मान्यता प्रदान करना आधुनिक चिन्तन[2] का ही परिणाम है। कैंदियों को शिक्षित करने से उनके पुनर्सामाजीकरण तथा पुनर्वासन के उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी, ऐसा माना गया।

कारागार में शिक्षा के द्वारा दृष्टिकोण में परिवर्तन, व्यावसायिक कार्य-कुशलता बढ़ाना, हीन-भावना को दूर करना तथा कारागार से मुक्ति के बाद सहयोग से रहने की युक्ति तथा इच्छा का विकास आदि अच्छे लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।[3] शिक्षा पतित स्त्री-पुरुषों को सुधारने के लिये सजीव[4] आधार शक्ति है।[5]

कैदियों के लिये शिक्षा के महत्व की व्यापकता को स्वीकार करते हुये विद्वानों[6] ने यहाँ तक कहा है कि यदि शिक्षा कैदियों के पुनर्वास में कोई योगदान न भी करे तो भी इस का अपना महत्व कम नहीं है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुये जन-साधारण की शिक्षा के साथ-साथ, कैदियों को कारागार में शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराने के विचार को मान्यता प्रदान की गई[7]।

डा० निर्मला, प्रिंसिपल श्री रामलीला वि० मन्दिर जूनियर हाई स्कूल पलिया कला लखीमपुर खीरी।

भारतीय कारागारों में इस विचार को शनैः शनैः मान्यता प्राप्त हुई[८]। जिस समय अंग्रेज शासकों ने भारत में कारागार व्यवस्था का पुनर्गठन प्रारम्भ किया, उस समय वे भारतीय कैदियों को किसी प्रकार की शिक्षा देने के पक्ष में नहीं थे। लार्ड मैकाले, जो कि भारत की आधुनिक कारागार-व्यवस्था के जन्मदाता माने जाते हैं ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुये कहा था, "——भारत में ५६,००० कैदियों के अतिरिक्त ५६,००० अन्य नागरिक भी हैं जिन्हें हम सार्वजनिक व्यय पर शिक्षा का अधिकारी नहीं समझते हैं। अतः जनता की शिक्षा पर राज्य अब तक जो थोड़ी सी धनराशि खर्च करता आ रहा है, इस का बहुत थोड़ा सा भाग इन निम्न कोटि के व्यक्तियों की शिक्षा पर व्यय किया जाना चाहिये। ...... यह निश्चय ही अन्याय होगा कि एक ईमानदार नागरिक के बच्चों को जो धनाभाव के कारण स्कूल नहीं जा सकते हैं, शिक्षा देने की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति की शिक्षा पर धन व्यय किया जाय, जिस की केवल एक विशेषता है—बेईमानी।[९]

इस उपेक्षित दृष्टिकोण के बावजूद इण्डियन जेल्स कमेटी १८६४ ने कैदियों की शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया और इसे मान्यता प्रदान की।[१०] कमेटी का मत था कि शिक्षा कैदियों के लिये उन की प्रकृति के अनुसार पुरस्कार या दण्ड सिद्ध हो सकती है, शिक्षा अनुशासन बनाये रखने में सहायक हो सकती है क्योंकि इससे कैदी को उस समय व्यस्त रखा जा सकेगा, जब वह अपने कार्य से खाली होगा। अतः स्पष्ट है कि इस समय शिक्षा का स्वरूप सुधारात्मक की अपेक्षा दण्डात्मक एवं अनुशासनात्मक अधिक था। भारत में आधुनिक कारागार व्यवस्था के पुनर्गठन के प्रारम्भिक दशकों में अंग्रेज शासक कैदियों को प्रारम्भिक स्तर तक ही शिक्षा देने के पक्ष में थे। इण्डियन जेल्स कमेटी १८६४ का मत था कि शिक्षित कैदियों को अन्य कैदियों को पढ़ाने के काम पर लगाया जाय परन्तु इस आधार पर उन्हें श्रम से मुक्त नहीं किया जायेगा। साथ ही अंग्रेजी शासक कारागारों में शिक्षकों को बाहर से वेतन पर नियुक्त करने के पक्ष में नहीं थे, उन का कहना था कि इससे अपराधों को बढ़ावा मिलेगा और उन व्यक्तियों को कारागार में आने के लिये एक प्रलोभन होगा जो कभी कारागार नहीं गये हैं[११]।

२० वीं शताब्दी में कारागार संस्था में सुधार की लहर पश्चिमी देशों में व्याप्त थी, संसार के सभी सभ्य देश मानवतावादी दृष्टिकोण को मान्यता दे रहे थे। अतः अंग्रेजों का साम्राज्यवादी मष्तिस्क भी उपनिवेशो के संदर्भ में कुछ उदार हुआ। भारतीय उपनिवेश के कारागारों में कैदियों को शिक्षा देने के प्रश्न पर पुनः विचार किया गया। इस बार कैदियों को शिक्षित करने का उद्देश्य एक नये रूप में सामने आया (सैद्धान्तिक रूप से)। यह उद्देश्य था—कारागार में शिक्षा देने का लक्ष्य अपने मूल रूप से पुनः समाज में लौटने के प्रति तैयार करना एवं उनके अन्तर्मन में जीवन व समाज के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने की क्षमता उत्पन्न करने में सहायता देना है।[१२] इसके पश्चात इण्डियन जेल्स कमेटी १९१९-२० ने कुछ व्यावहारिक सुझाव कैदियों की शिक्षा के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये, जिन में मुख्य थे[१३]—२५ वर्ष

तक के कैदियों को शिक्षा तथा उन सभी कैदियों को शिक्षा की सुविधा उपलब्ध कराना, जो इस से लाभान्वित होने की योग्यता रखते हैं। इस कमेटी ने सर्वप्रथम, कैदियों को धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देने की सिफारिश की।

इसके पश्चात यू० पी० जेल्स इन्क्वायरी कमेटी १९२९ ने भी इण्डियन जेल्स कमेटी १९१९-२० द्वारा दिये गये सुझावों का समर्थन किया[१४]। इसकी सिफारिशों के आधार पर १९३२ में सभी अशिक्षित, २५ वर्ष से कम आयु के कैदियों के लिये शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। १९३७ में 'नया सवेरा' योजना चलाई गयी जिससे उत्तर प्रदेश के कारागारों में शिक्षा के क्षेत्र में और अधिक प्रगति हुई[१५]।

वर्तमान समय में उ० प्र० के सभी केन्द्रीय और जिला कारागार कैदियों के लिये स्कूल चलाते हैं। पहले शिक्षित कैदियों से ही शिक्षक का कार्य लिया जाता था परन्तु वर्तमान समय में कैदी शिक्षकों के अतिरिक्त बाहर से भी शिक्षक नियुक्त किये जाते हैं।

कारागारों में शिक्षा के विभिन्न रूप

साधारण अर्थों में लिपि और अक्षर ज्ञान को ही शिक्षा का नाम दिया जाता है परन्तु आधुनिक समय में उत्तरोत्तर शिक्षा का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है अतः मात्र लिपि एवं अक्षर ज्ञान से शिक्षा का उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है, यह कथन कैदियों के सन्दर्भ में विशेष महत्व रखता है। अपराधी को सुधारने के लिये दो बातें विशेष रूप से आवश्यक है—

(१) जीविकोपार्जन का कोई साधन जिससे कारागार से मुक्त होने के पश्चात अपराधी अपने जीवन यापन की आवश्यताओं को पूरा करने के लिये कोई विकल्प न पाकर पुनः अपराध का आश्रय लेने को विवश न हो।

(२) अपराधी का नैतिक एवं चारित्रिक उत्थान जिस से वह पुनः अपराध का जीवन स्वेच्छा से न अपना सके।

अतः स्पष्ट है कि इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कारागार में कैदियों को व्यावसायिक शिक्षा तथा नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा दिया जाना विशेष महत्व रखता है।

व्यावसायिक शिक्षा : मैकॉर्मिक ने कैदियों को पुनर्वासित करने के लिये व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष बल दिया है।[१६] यू.पी. जेल्स इन्क्वायरी कमेटी १९२९ ने कारागारों में इस प्रकार की शिक्षा के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुये स्पष्ट किया है कि कैदियों को ऐसी व्यावसायिक शिक्षा देना आपत्तिजनक नहीं है जो रोचक हो उन के हाथ और आंखों को प्रशिक्षित कर सके, कार्य करने की नियमित आदत डाल सके एवं मस्तिष्क को एक स्थान पर केन्द्रित कर सके।[१७] २०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक उत्तर प्रदेश के कारागारों में विभिन्न

उद्योगों, जैसे—कालीन, दरी व निवाड़ बुनना, कम्बल बुनना, सूती कपड़ों की बुनाई, प्रिन्टिंग, औषधि निर्माण, सिलाई, मूंज मैटिंग, गनी बैग, टाट, आदि बनाना, की स्थापना हो चुकी थी और इन के माध्यम से कुछ न कुछ व्यावसायिक प्रशिक्षण कैदियों को अवश्य दिया जाता था भले ही इसका उद्देश्य व स्वरूप सुधारात्मक हो, दण्डात्मक हो अथवा इसमें कारागारों का आर्थिक हित निहित हो।

कैदियों के व्यावसायिक शिक्षा से लाभान्वित होने के सम्बन्ध में एक व्यावहारिक कठिनाई यह भी थी कि कारागार से मुक्त होने के पश्चात कैदी वह व्यवसाय नहीं अपनाते थे जो उन्होंने अपने बन्दी-जीवन में सीखा था।[१७] इस के पर्याप्त कारण भी थे—प्रथम उ०प्र० के कारागारों में लगभग ८० % कैदी ग्रामीण पृष्ठभूमि एवं कृषि व्यवसाय से सम्बन्धित होते थे। कृषि से सम्बन्धित व्यवसाय के अतिरिक्त कोई अन्य व्यवसाय इन के लिए व्यर्थ था, द्वितीय आर्थिक समस्या, अपराधी होने के कारण उस की आर्थिक सहायता के स्रोत बहुत ही सीमित हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में बी० एस० हाइकरवाल का यह कथन उल्लेखनीय है कि यदि कैदियों को अन्य व्यवसाय जैसे मूंज की चटाई, दरी बनाना आदि सिखाने की अपेक्षा उन्हें कृषि व कृषि से सम्बन्धित व्यवसाय सिखाने चाहिए, इससे कैदियों को भी लाभ होगा और राष्ट्र के लिये भी यह लाभदायक होगा।[१८] इण्डस्ट्रीज री आर्गनाइजेशन एडमिनिस्ट्रेशन[१९] की भी सिफारिश थी कि संस्थाओं में लिये जाने वाले श्रम की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए जो कारागार से छूटने के बाद उन्हें नागरिक जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने में मदद दे सकें, इस दृष्टिकोण से कृषि कार्य लाभदायक सिद्ध होंगे। इन सब बातों को ध्यान में रखकर, कृषि से सम्बन्धित व्यवसायों का प्रशिक्षण देने एवं कारागार की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुये लखनऊ केन्द्रीय कारागार एवं रायबरेली जिला कारागार में डेरी व कृषि कार्य आरम्भ किया गया। इस के अतिरिक्त कारागारों में सब्जी इत्यादि के उत्पादन का कार्य भी किया जाता था। यू० पी० जेल रिफार्म्स कमेटी १९४६ में कारागार उद्योगों में छोटी और आसानी से प्रयोग की जा सकने वाली मशीनों के प्रयोग की अनुमति देने की सिफारिश भी की।

कैदियों को पुनर्वासित करने के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट और प्रामाणिक सांख्यिकी उपलब्ध नहीं है, भारतीय सामाजिक' आर्थिक परिस्थितियों में इसकी सफलता के बारे में सन्देह है, जहाँ स्वतन्त्र ईमानदार नागरिक के रोजगार के अधिकार की सुरक्षा न हो, वहाँ कारागार से छूटे हुये व्यक्ति के लिये इस की आशा करना व्यर्थ है। उपरोक्त परिस्थितियों को देखते हुये यह आवश्यक है कि कारागारों में व्यावसायिक शिक्षा को कार्यान्वित करने वाली नीति एक निश्चित सीमा तक व्यवसाय जगत में यथार्थ रूप से विद्यमान परिस्थितियों से प्रभावित होनी चाहिए जिससे कारागार से मुक्त हुये अपराधी को रोजगार मिलने में अधिक कठिनाई न हो।[२०]

धार्मिक व नैतिक शिक्षा : धार्मिक व नैतिक शिक्षा का महत्व एवं आवश्यकता प्रत्येक

युग में सर्वमान्य रही है, प्राचीन राज्य व्यवस्था में धर्म का सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया जाता था एवं आधुनिक मशीनी युग में भी धर्म अपनी वही भूमिका निभाने में सक्षम है।[३१] धर्म और नैतिक शिक्षा का अपराधियों के चरित्र उत्थान में, महत्व पाश्चात्य विद्वानों[३२] द्वारा भी स्वीकार किया गया है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक तक ब्रिटिश सरकार ने भारतीय कारागार प्रशासन में धार्मिक शिक्षा को बहुत सीमित स्थान दिया था[३३] और भारतीय बुद्धिजीवी, इस की महत्ता के अनुरूप स्थान दिये जाने की मांग कर रहे थे।[३४] इण्डियन जेल्स कमेटी १६१६-२०, ने भारतीय शिक्षा को किसी धर्म विशेष तक ही सीमित न रखकर इस की व्यापकता का दृढ़ता से समर्थन किया।[३५] यू० पी० जेल्स इन्क्वायरी कमेटी १६२६ में धार्मिक शिक्षा देने वाले व्यक्तियों को वेतन पर नियुक्त करने की सिफारिश की।[३६] डिपार्टमेण्टल जेल कमेटी १६३६ ने धार्मिक और नैतिक शिक्षा को कैदियों के लिये सुधारवादी माध्यम के रूप में मान्यता देते हुये १६२६ की कमेटी के सुझावों का समर्थन किया।[३७] जेल मैनुअल में भी इस सम्बन्ध में नियम बनाये गये। इस शिक्षा का सर्वव्यापी महत्व होने के बावजूद भी कारागारों में इसे व्यवहार में लाना विवाद से मुक्त नहीं रहा। एफ० ए० बार्कर का मत दृष्टिव्य है,[३८] "भारत में धार्मिक व नैतिक शिक्षा के सन्बन्ध में बहुत कठिनाइयां हैं...... संयुक्त प्रान्त (युनाइटेड प्राविन्सेस) में हिन्दू मुस्लिम दंगे होते रहते हैं...... कारागार में विभिन्न संप्रदायों के बीच संघर्ष के भय से सामूहिक प्रवचन या सामूहिक प्रार्थना करने की अनुमति पूर्वकाल में नहीं दी गयी परन्तु ईसाइयों के वार्ड में इस प्रकार की प्रार्थना करने की अनुमति थी.........।" इस सुविधा के आधार पर आगे चलकर हिन्दू एवं मुस्लिम कैदियों ने मांग की कि या तो उन्हें भी इसी प्रकार की सुविधा दी जाय अथवा धर्मानुयायियों की सुविधाएं भी समाप्त कर दी जाय। इन सब विवादों के होते हुये भी, धार्मिक शिक्षा कुछ सीमा तक कैदियों को उन के धार्मिक विश्वासों के अनुसार दी जाती रही।

धर्म के मनोविज्ञान के विषय में बहुत कम ज्ञात है। मौलवी, पण्डित, और खालसा, जो भारतीय कारागारों में 'चैप्लेन्स'[३०] की भांति धर्म और नैतिकता की शिक्षा देने जाते हैं, का योगदान कैदियों के नैतिक उत्थान में बहुत महत्वपूर्ण नहीं होता है यदि इन व्यक्तियों से योगदान की कुछ आशा की जाती है तो यह आवश्यक है कि यह व्यक्ति अपराधशास्त्र और सामाजिक कार्य का भी उतना ही ज्ञान रखते हों जितना कि धर्म का।[४१]

व्यावसायिक और धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त कारागारों में सामान्य स्कूली शिक्षा भी दी जाती है 'नया सवेरा' योजना के अन्तर्गत, किशोर सदन बरेली व नारी बन्दी निकेतन लखनऊ यू० पी० बोर्ड द्वारा संचालित कक्षा आठ तक की शिक्षा और व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में परीक्षा देने की सुविधा उपलब्ध कराते हैं।

उपरोक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुये कैदियों के लिये शिक्षा का औचित्य निम्न आधारों पर अनुभव किया जा सकता है--

१- सामान्य स्कूली शिक्षा कैदियों को दैनिक जीवन में काम आने वाली बातों का ज्ञान कराती है।

२- व्यावसायिक शिक्षा देने का उद्देश्य रोजगार प्राप्त करने के अवसर बढ़ाना है।

३- स्वास्थ्य की शिक्षा व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा समय के सदुपयोग एवं एक दूसरे के साथ रहने तथा सामन्जस्य स्थापित करने की योग्यता उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। कैदियों की शिक्षा के सम्बन्ध में किसी चमत्कार की आशा नहीं की जा सकती है क्योंकि कैदी समूह इस प्रकार के कार्यों के लिए बहुत सी बाधाएं उत्पन्न करता है, अनेक प्रकार की भाषाएं बोलने वाले कैदी, उनकी शिक्षा का निम्न स्तर, दिन प्रतिदिन व एक के बाद एक महीनों में बड़ी संख्या में उनका आना-जाना, बौद्धिक महत्वाकांक्षा का अभाव, प्रोत्साहन देने वाली कारागार-शासन प्रणाली एवं अधिकारियों की कमी आदि, सामान्य रूप से आरम्भ में कैदियों को शिक्षित करने का कार्य दुष्कर बना देते हैं। इससे भी महत्वपूर्ण कैदियों का अवकाश तथा उन्हें समझाने की बात है।

इस सम्बन्ध में मैकार्मिक का यह मत[१२] अत्यन्त महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक है कि कारागारों में शिक्षा वैयक्तिक आवश्यकता के आधार पर दी जानी चाहिए। कैदी की व्यावसायिक पृष्ठभूमि, पूर्व-शिक्षा, भावनात्मक-मनोदशा, रुचि, स्वास्थ्य, भविष्य के प्रति विचार, देश के किस भाग से आया है और रिहा होने पर कहाँ जायेगा, मन्द बुद्धि है या होशियार एवं कारादण्ड की अवधि आदि को ध्यान में रखकर उसी के अनुरूप शिक्षा दी जाए तो बहुत लाभदायक सिद्ध होगी। यह सत्य है कि किसी सुविधासम्पन्न एवं गतिशील स्कूल की आशा कारागार जैसी संस्था में नहीं की जा सकती है परन्तु यदि कैदियों के सामाजिक व आर्थिक पुनर्वास का उद्देश्य प्राप्त करना है, तो कारागार-संस्थागत शासन एवं कर्मचारियों को शिक्षा के उद्देश्यों एवं इसके लिए आवश्यक गतिविधियों से परिचित होना आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ३/२/७, सम्पादित एवं अनूदित मार्टिन हॉग, बम्बई, १८६३

२. प्राचीन काल की कारागार-व्यवस्था में कुछ सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाये जाने का उल्लेख मिलता है परन्तु शिक्षा को कैदियों के सुधार के लिये प्रयोग में लाने का उल्लेख नहीं मिलता है।

३. बालक, केन्डल एवं ब्रिग्स, एजुकेशन विदिन प्रिजन वाल्स, पृ० १६, ब्यूरो ऑफ-पब्लिकेशन्स कोलम्बिया यूनि० १६३६।

४. शिक्षा एक सजीव आधार शक्ति इस सन्दर्भ में है, कि शिक्षा बुद्धि तीव्र करती है, आत्म सम्माने की प्रेरणा देती है, ऊंचे उद्देश्यों को प्रोत्साहन देती है एवं तुच्छ तथा दूषित मनोविनोद के स्थान पर स्वस्थ अनुकल्प प्रदान करती है।

५. एच० ई० बार्न्स, एन० के० तीतर्स, न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी, पृ० ४८३ प्रेन्टिस-हाल ऑफ इण्डिया प्रा० लि० नई दिल्ली, १६६६।

६. इन विद्वानों में डी० आर० टैक्ट, ए० एच० मैकार्मिक, अलेक्जेण्डर पैटर्सन आदि प्रमुख हैं। पैटर्सन का कहना है कि प्रारम्भिक शिक्षा भी कैदियों के लिये लाभदायक सिद्ध हो सकती है क्यों कि यह उन के जंग खाये व कुनियन्त्रित दिमाग को कार्य करने योग्य बनाता है एवं उन की रुचि का क्षेत्र बढ़ाता है—ए० पैटर्सन, पैटर्सन ऑन प्रिजन पृ० ११२ फ्रेडरिक मूल्य लन्दन, १६५१।

७. संयुक्त राज्य अमेरिका जो कि कारागार-सुधारों में अग्रणी रहा है, में १८७० में कारागार प्रशासकों ने इस विश्वास को मान्यता देनी प्रारम्भ कर दी कि कारागार में कैदियों को शिक्षा प्रदान करना प्राथमिक महत्व का विषय है और इसे कारागार संस्था के अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ सम्भावित पूर्ण सीमा तक प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। बार्न्स एवं तीतर्स, पूर्वोक्त, पृ० ४८३।

८. इस का कारण यह था कि भारत अंग्रेजी उपनिवेश था, अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य अनुशासन एवं व्यवस्था था, सुधार नहीं।

६. ए० पी० हावेल, अण्डर सेक्रेट्री, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, नोट ऑन जेल एण्ड जेल्स डिसिप्लिन, १८६७-६८ पृ० ६४

१०. इण्डियन जेल्स कमेटी १८६४, पृ० ३०

११. ए० पी० हावेल, अण्डर सेक्रेट्री, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया; नोट ऑन जेल एण्ड जेल्स डिसिप्लिन, पृ० ४८-४६।

१२. आर० एन० दातिर प्रिजन एज ए सोशल सिस्टम, पृ० ३२८

१३. इण्डियन जेल्स कमेटी १६१६-२०, पैरा २७३

१४. १६१६ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के द्वारा कारागार प्रशासन प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में आ गया, १६२६ की कमेटी उ० प्र० सरकार द्वारा कारागार की समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिये गठित, प्रथम कमेटी थी।

१५. यह योजना, साक्षरता निकेतन लखनऊ द्वारा तैयार की गयी थी।

१६. ए० एच० मैकार्मिक, एजुकेशन इन द प्रिजन्स ऑफ टुमारो, रानाल्स ऑफ अमेरिकन एकेडमी ऑफ पोलिटिकल एण्ड सोशल साइन्स, पृ० ७६।

१७. यू.पी. जेल्स इन्क्वायरी कमेटी १६२६, पैरा २२६।

१८. बी० एस० हाइकरवाल, इकनॉमिक एण्ड सोशल आस्पेक्ट्स ऑफ क्राइम इन इण्डिया पृ० २०।

१६. इण्स्ट्रीज रीआर्गनाजेशन एडमिनिस्ट्रेशन की स्थापना, १६३५ में अमेरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा की गयी थी।

२०. वालक केन्डल एवं ब्रिग्स,—एजुकेशन विदिन प्रिजन वाल्स, पृ० २७।

२१. धर्म का अर्थ सिर्फ कर्मकाण्ड और पूजा ही नहीं अपितु धर्म अच्छे बुरे में भेद करने की योग्यता, आत्मसंयम एवं आत्मानुशासन की शिक्षा भी देता है।

२२. इन विद्वानों में ई० एच० सदरलैण्ड, डोनाल्ड आर० क्रेसी, अलेक्जेण्डर पैटर्सन, तथा जेम्स वी० बेनेट आदि प्रमुख हैं।

२३. इस समय भारतीय कारागारों में धार्मिक शिक्षा के नाम पर चैप्लेन्स संस्थाओं से सम्बन्-कुछ नियम लागू थे। ईसाई व कुछ-गैर ईसाई स्वयंसेवक कार्यकर्ता धार्मिक शिक्षा देने आते थे। डॉ एस० पी० श्रीवास्तव, द इण्डियन प्रिजन कम्युनिटी पृ० २६६।

२४. इस सम्बन्ध में भारतीय समाचार पत्रों के माध्यम से विचार व्यक्त किये गये थे, 'आगरा अखबार' का कथन उल्लेखनीय है, "कारागार में झेली हुई यातनाएं अपराधी की समस्त मानवीय शक्ति समाप्त कर देती हैं और वह किसी कार्य के योग्य नहीं रहता। यदि सरकार कारागारों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रवन्ध करे, तो सम्भवत: अपराध बहुत ही कम हो जाए। आगरा अखबार ७ मार्च १८१४।

२५. इण्डियन जेल्स कमेटी १९१९-२०, पैरा २८०।

२६. यू० पी० जेल्स इन्क्वायरी कमेटी १९२९, पेंरा २९९।

२७. डिपार्टमेण्टल जेल कमेटी १९३९ पृ० ५५।

२८. एफ० ए० बार्कर, द मार्डन प्रिजन सिस्टम ऑफ इण्डिया, पृ० ३२-३३।

२९. धर्म पूर्ण रूप से व्यक्तिगत विषय है और कैदियों को किसी धर्म विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है, मुस्लिम काल में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं, यदि कोई गैर मुस्लिम कैदी इस्लाम स्वीकार कर लेता था तो उसे दण्ड मुक्त कर दिया जाता था। ए० बी० पाण्डे, सोसाइटी एण्ड गवर्नमेण्ट इन मेडिकल इण्डिया पृ० १६७।

३०. "चैप्लेन्स" पाश्चात्य कारागारों के "होली मैन" माने जाते थे तथा कारागार प्रशासन को सोशल केस वर्क टेक्नीक से परिचित कराने वाले एवं अपराधी को व्यक्तिगत उपचार से सुधारने की क्षमता को पहचानने वाले प्रथम थे।

३१. डॉ एस० पी० श्रीवास्तव, द इण्डियन प्रिजन कम्युनिटी पृ० २७५।

३२. ए० एच० मैकार्मिक, एजुकेशन इन द प्रिजन्स ऑफ टुमारो, पृ० ७६

मानव में जन्मजात विकृतियाँ

राज किशोर

जन्मजात विकृति, शरीर के किसी भी भाग में उत्पन्न हुई उन अन्दरूनी या बाहरी खराबियों को कहते हैं जो जन्म के समय मौजूद हों तथा शरीर की रचना में गड़बड़ी के कारण उत्पन्न हुई हों। इसका एक उदाहरण होंठ तथा तालु का कटा होना है जो चेहरे के कुछ हिस्सों के आपस में न जुड़ पाने के कारण होता है। इसी प्रकार तंत्रिकातंत्र बनाने वाले हिस्सों के आपस में न जुड़ पाने के कारण सिर व रीढ़ की हड्डी में कई प्रकार के विकार पैदा हो जाते हैं जिन्हे एनेनसिफैली व मैनिंगोमाइलोसील आदि कहते हैं। अन्य उदाहरणों में पालीडक्टली (५ से अधिक अँगुलियां), क्लबफुट (पैर की विकृति), इन्टरसेक्स (जननांगों के विकास में त्रुटि) व इमपरफोरेट एनस (गुदा द्वार का बन्द होना) आदि सम्मिलित हैं। कभी-कभी कई त्रुटियाँ एक साथ पाई जाती हैं जो कि एक साथ मिलकर एक जाना पहचाना सिन्ड्रोम बनती है जैसे–डाउन सिन्ड्रोम। उपरोक्त समस्त विकृतियाँ बाहर से दिखाई देती हैं तथा आसानी से पहचानी जा सकती हैं लेकिन कुछ त्रुटियाँ शरीर के आन्तरिक भागों में भी पाई जाती है जैसे—दिल, श्वास नली, गुर्दो व अन्तड़ियों आदि की बनावट में खराबी जिनका आसानी से पता नहीं चल पाता है। इसलिए सारे नवजात शिशुओं को उनके विशेष डाक्टर, निओनेटोलोजिस्ट द्वारा शरीर की रचना एवं विकास जाँच जन्म पर की जानी चाहिए। कुछ स्थितियों में जन्मजात विकृति का कई वर्षों तक पता नहीं चल पाता है यद्यपि विकृति जन्म के समय से ही उपस्थित रहती है।

नवजात शिशुओं में जन्मजात विकृतियों की सामान्य दर १५.२% है। इस प्रकार प्रत्येक ५० शिशुओं में से एक असामान्य बच्चा जन्म ले सकता है। मृत पैदा होने वाले बच्चों में यह दर बढ़कर ३० प्रतिशत तक हो सकती है। यह दर सब प्रकार की विकृतियों को लेकर पाई जाती है। अन्यथा किसी एक प्रकार की विकृति की दर प्रति हजार शिशुओं में दर्शाई जाती है और एक जगह से दूसरी जगह इस दर में काफी फर्क हो सकता है।

राजकिशोर, शोध छात्र मानवशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ

बहुधा जन्मजात विकृतियाँ परिवार के अन्य किसी सदस्य को प्रभावित किये बिना ही उत्पन्न होती है। परन्तु कुछ विकृतियाँ जो जेनेटिक सिन्ड्रोम का हिस्सा होती है, आनुवांशिक हो सकतीं हैं। एक बार जन्मजात विकृति होने की आशंका काफी बढ़ जाती है।

गर्भाधान के फलस्वरूप शुक्राणु एवं अंडे के मिलन से उत्पन्न अकेली कोशिका (जाइगोट) से जीवन का प्रारम्भ होता है। यह कोशिका एक से दो, दो से चार में बँटती है और इस प्रकार विभाजन की क्रिया चलती रहती है। धीरे-धीरे विभिन्न अंगों का निर्माण होता है। यह विभाजन एवं अंग निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है परन्तु एक नियमबद्ध तरीके से होती है। जीन अथवा क्रोमोसोम (जिस पर जीन स्थित होते हैं) में कोई दोष अथवा अधिकतर वातावरणीय प्रभाव जो विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं, जन्मजात विकृतियों के लिए उत्तरदायी होते हैं।

वातावरण के बहुत से कारक गर्भाशय में शिशु (भ्रूण) के लिए हानिकारक हो सकते हैं। सर्वाधिक हानि होने की आशंका गर्भ के प्रथम तीन माह में होती है। इनमें निम्न सम्मिलित है (१) इन्फेक्शन्स जैसे रूबेला, साइटोमिगैलोवाइरस व टोक्सोप्लाज्मा आदि (२) दवाइयाँ इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण कैंसर व मिर्गी के दौरे में दी जाने वाली दवाइयां हैं। कई अन्य दवाइयाँ भी जानवरों में जन्मजात विकृतियाँ पैदा करने वाली पायी गई हैं।

अत: गर्भवती अवस्था में स्वयं दवाइयों का प्रयोग नहीं करता चाहिए। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर किसी कुशल डाक्टर के परामर्श से दवाई लेने में कोई भय नहीं है। (३) एक्सरे, व (४) आदतें जैसे कि गर्भावित अवस्था में तम्बाकू या शराब का सेवन।

जन्मजात विकृतियों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जाता है, जिन्हें "मेजर" (मुख्य) तथा "माइनर" (गौण) विकृतियाँ कहते हैं। मेजर विकृतियाँ वह हैं जो मनुष्य की कार्य कुशलता अथवा सामाजिक महत्व को प्रभावित करती हैं। जबकि माइनर त्रुटि न तो चिकित्सीय और न ही श्रृंगारिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होती है।

इस बात पर जोर देने की आवश्यकता है कि अधिकांश बच्चों में शरीर के एक विशेष भाग में ही त्रुटि हो सकती है, इसलिए जहां पर त्रुटि को शल्य चिकित्सा द्वारा ठीक किया जा सकता है, उन बच्चों का विकास अन्य बच्चों की तरह ही होता है। यह सन्तोष का विषय है कि आधुनिक तकनीकी विकास की बजह से जटिल त्रुटियों को शल्य चिकित्सा द्वारा ठीक किया जा सकता है। हालांकि यह सभी विकृतियों में सम्भव नहीं है। बच्चों की शल्य चिकित्सा स्वयं में ही एक विशेषता हो गई है। माइनर विकृतियों को ऐसे ही छोड़ देना श्रेयस्कर है।

एक प्रभावित बच्चे के जन्म के बाद अगले बच्चे में इसी तरह की विकृति उत्पन्न होने की आशंका बढ़ जाती है। इस बढ़ी हुई संभावना की दर एक स्थिति से दूसरी स्थिति में तथा

एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलती रहती है। सामान्यतया यह आशंका ४-५ प्रतिशत के लगभग होती है। प्रभावित माता-पिता के बच्चों में इसी प्रकार की विकृति के उत्पन्न होने की आशंका ४-५ प्रतिशत तक होती है। यदि परिवार में एक से अधिक व्यक्ति विकृत हों तब अन्य बच्चों में इसके उत्पन्न होने की आशंका और अधिक बढ़ जाती है।

साधारणत: जन्मजात विकृतियों की रोकथाम के लिए गर्भ को प्रथम तीन माह में, इन्फेक्शन, अनावश्यक दवाइयाँ, एक्स-रे तथा अन्य हानिकारक पदार्थों से बचाना अत्यन्त आवश्यक है। तम्बाकू पीने तथा शराब पीने की आदतें भी गर्भवती महिला को या तो छोड़ देनी चाहिए अथवा बहुत कम कर देनी चाहिए।

विकृति विशेष की रोकथाम करने के लिए, विकृति की सही जानकारी पहचान (डाइगनोसिस) सम्भावित कारण तथा उसके दोबारा होने की सम्भावनाओं का निदान करना आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में जेनेटिक काँउसिलिंग-क्लीनिक्स से परामर्श लाभदायक हो सकता है।

मेरु रज्जु की खुली हुई विकृतियों की रोकथाम के लिए गर्भ धारण होने से पहले तथा बाद में विटामिन का प्रयोग बताया जाता है, लेकिन इस प्रकार दवाइयों की उपयोगिता हमारे देश में अभी परखी नहीं गई है। इसके अतिरिक्त जन्म से पहले मेरु रज्जा की विकृतियों का पता लगाया जा सकता है, और मेडिकल दृष्टिकोण से गर्भपात कराया जा सकता है।

कुछ जन्मजात विकृतियाँ गर्भाशय में अल्ट्रासोनोग्राफी अथवा एमनियोटक फ्लूड (बच्चे के चारों ओर गर्भाशय में पाये जाने वाला द्रव) की जांच से पता की जा सकती है।

(अ) अल्ट्रासोनोग्राफी : इस विधि में अधिक आवृति वाली ध्वनि तरंगे, एक्स-रे की भाँति तस्वीर बनाती हैं। यह ध्वनि तरंगें हानिरहित होती हैं। गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में ही इस विधि द्वारा कई प्रकार की जन्मजात विकृतियों का पता चल सकता है, परन्तु इसके चित्रों को समझने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।

(ब) एमनियोटिक फ्लूड का परीक्षण : गर्भाशय के अन्दर पाया जाने वाला द्रव पदार्थ जिसमें बच्चा तैरता रहता है, एमनियोटिक फ्लूड कहलाता है। इस द्रव को एक साधारण सिरिंज व सुई की सहायता से सावधानी पूर्वक निकाला जा सकता है। इसके लिए सबसे उचित समय गर्भधारण के १४-१६ हफ्ते के पश्चात होता है। इस द्रव की जांच द्वारा आपेन न्यूरल ट्यूब डिफेक्ट तथा क्रोमोसोम—बीमारियों का पता गर्भ की अवस्था में किया जा सकता है।

(स) कोरियोन बायोप्सी : इस टेस्ट में ६ से ८ सप्ताह के गर्भ के समय प्लेसेन्टा का एक टुकड़ा निकालकर उसकी जाँच की जाती है। इससे एमनियोटिक फ्लूड की अपेक्षा गर्भ के प्रथम चरणों में ही जाँच के परिणाम प्राप्त हो जाते हैं।

अल्ट्रासोनोग्राफी एक प्रकार से पूर्णतया सुरक्षित विधि है। इससे बच्चे अथवा माँ की किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावायें नहीं होती हैं। एमनियोटिकफ्लूड की जाँच में गर्भपात की सम्भावना रहती है परन्तु इससे माँ को कोई ख़तरा नहीं होता है। कोरियोन बायोप्सी अपेक्षाकृत नई विधि है। अभी तक के परिणामों के आधार पर इस जाँच में ३-४ प्रतिशत गर्भपात होने की आशंका पाई गई है लेकिन यह धीरे-धीरे घट रही है तथा इससे उत्पन्न हानि होने की सम्भावनायें अत्यंन्त कम होने पर भी पूर्णतया सिद्ध नहीं हुई हैं।

"कंसैंग्विनिटी" का अर्थ है दो रक्त सम्बन्धियों में शादी होना जैसे चचेरे भाई-बहन। सिद्धान्त रूप में यह समझा जाता है कि इस प्रकार की शादी होने पर जन्मजात विकृतियों वाले बच्चे पैदा होने की सम्भावनायें बढ़ जाती है, यद्यपि दक्षिणी भारत, जहां इस प्रकार की शादियाँ काफी प्रचलित हैं, में किये गये अध्ययनों के अनुसार यह सम्भावनायें अधिक बढ़ी हुई नहीं पायी गई हैं। लेकिन यह बात देश के और हिस्सों के लिए सही नहीं भी हो सकती है फिर भी इस प्रकार की शादियों को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए।

अधिक आशंका को इंगित करने वाले कुछ तथ्य इस प्रकार हैं--

१. माता अथवा पिता की अधिक आयु।
२. गर्भ के प्रथम तीन माह में दवाइयों का प्रयोग।
३. गर्भवती अवस्था में माता को वाइरल इन्फेक्शन का होना, विशेषरूप में रुबेला, (प्रथम तिमाही में)
४. गर्भ के प्रथम तीन माह के दौरान एक्स-रे का होना।
५. बीड़ी-सिगरेट तथा शराब की आदतें।
६. परिवार में अन्य किसी सदस्य में जन्मजात विकृतियों का पाया जाना।
७. माता के रक्त में अल्फा-फीटो-प्रोटीन का अधिक मात्रा में पाया जाना।

सन्दर्भ

१. कर्ट स्टर्न : प्रिंसपल्स आफ ह्यूमन जेनेटिक्स
२. विंचेस्टर : जेनेटिक्स
३. सक्सेना, एच. एम. के. और चन्द्रा, एम. कांनजेनाइटल मैलफारमेशन इन पेरीनेट डेथ्स. कांनजेनाइटल इंडियन पीडियाट्रिक्स, १४६२५ : ७७
४. शर्मा, बी. बाजपेई पी० सी० कांनजेनाइटल मैलफारमेशन्स इन लखनऊ "इंडियन जर्नल आफ पीडियाट्रिक्स ३६ : २८६
५. शपीरो इनसीडेन्स आफ कानजेनाइटल एनामलीस इन ह्यूमन्स "इंडियन जर्नल आफ पीडियाट्रिक्स" ६६ : ३७६
६. रेकार्ड, आर. जी. एनेन सिफेली इन स्काटलैंड "ब्रिटिश जर्नल आफ प्रिवेंटिव एंड सोशल मेडिसिन" १५ : ८३, १९६१

मैक्स वेबर द्वारा सत्ता का विवेचन

जगदीश पुण्डीर

सत्ता का अर्थ एवं प्रकार/आधार

समाज विज्ञान में सत्ता को दो प्रमुख अर्थों में समझने का प्रयास किया गया है।[1] प्रथम किसी व्यक्ति की क्षमता, द्वितीय-किसी व्यवस्था की सामूहिक उद्देश्य पूर्ण करने की क्षमता, मेक्स वेबर की सत्ता की अवधारणा को प्रथम प्रकार की परिभाषा में रखा जाता है। मेक्स वेबर ने अपनी पुस्तक **'दी थ्योरी आफ सोशल एण्ड इकनामिक आर्गेनाइज़ेशन'** (अंग्रेजी अनुवाद १९४७ में प्रकाशित) में शक्ति एवं सत्ता को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है। वेबर[2] के अनुसार "शक्ति किसी व्यक्ति की अपनी इच्छा को, दूसरों के द्वारा विरोध के बावजूद, पूर्ण करने की क्षमता की सम्भावना है।" व्यक्ति की इच्छा को पूर्ण करने की संभावना किसी प्रकार से हो सकती है किन्तु वास्तव में उसे दूसरे मान लें इसके लिये उस शक्ति का वैध होना आवश्यक है। यदि वैधता सत्ता में नहीं हो तो उसे केवल शक्ति ही कहना उचित होगा। इस प्रकार से वैध शक्ति को सत्ता कहा जाता है। Legitimate power is authority वेबर के अनुसार वैधता के कई आधार हो सकते हैं। इन आधारों को वेबर ने तीन प्रकारों में विभाजित किया और तीन प्रकार की सत्ता की अवधारणा का प्रतिपादन किया।

सत्ता के तीन आधारों में प्रथम है परम्परा। किसी व्यक्ति की इच्छा को लोग यदि इसलिये वैध मानते हैं क्योंकि परम्परागत अमुक व्यक्ति की इच्छा अथवा आदेश को माना जाता रहा है तो इस प्रकार की सत्ता को वेबर के अनुसार परम्परागत सत्ता (ट्रेडीशनल ओथोरिटी) कहते हैं। यदि किसी व्यक्ति की इच्छा या आदेश को अन्य लोग अमुक व्यक्ति के विशेष गुण, अदम्य साहस, विशिष्ट चरित्र या अन्य चमत्कारी गुणों के कारण वैध मानते हैं तो ऐसी सत्ता को चमत्कारिक सत्ता (Charismatic authority) कहते हैं। तीसरे-यदि किसी व्यक्ति की इच्छा, आदेश या निर्देश अन्य व्यक्ति इस लिये मानते हैं या उनका पालन करते हैं, उसे वैध मानते हैं क्योंकि वह व्यक्ति समाज या संगठन में नियमों के अनुसार आदेश या निर्देश देने का अधिकारी है तो इस प्रकार की सत्ता को 'लीगल ओथोरिटी' कहते हैं। इस

जगदीश पुण्डीर, रीडर समाज शास्त्र विभाग, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ।

प्रकार वेबर के अनुसार सत्ता के तीन आधार हैं—परम्परा, चमत्कारी विशेष गुण, तथा नियम । इन तीनों आधारों पर तीन प्रकार की सत्ता होती है परम्परात्मक, चमत्कारिक एवं वैधानिक ।

परम्परात्मक सत्ता

परम्परात्मक सत्ता में वैधता इस विश्वास पर आधारित है कि अमुक व्यक्ति किसी समुदाय, संगठन, क्षेत्र या जन जाति समूह में परम्परागत आदेश या निर्देश देने का अधिकारी रहा है । भूत काल से अमुक स्थिति के व्यक्ति में सब लोगों का विश्वास उसी तरह रहा है । सदैव उसकी सत्ता को ऐसे ही वैध माना जाता रहा है । 'परम्परात्मक सत्ता' में व्यक्ति को परम्परा के अनुसार ही अमुक विशेष स्थिति प्राप्त होती है । व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता को आदेश का केन्द्रमान कर उसका पालन किया जाता है क्योंकि परम्परागत स्थिति के कारण ही उसे सत्ता का पद प्राप्त होता है । इस प्रकार की सत्ता में किसी प्रकार का शासन तन्त्र आवश्यक नहीं होता । बल्कि व्यक्तियों को संगठन में सत्तायुक्त व्यक्ति स्वयं की जानकारी के आधार पर अपने साथ रखता है । सामान्य व्यक्ति किसी समिति के सदस्य नहीं होते बल्कि सत्ता पद के साथी अथवा सामान्य नागरिक (सबजेक्ट्स) होते हैं । सत्ता का संगठन व्यक्तिगत निष्ठा के सम्बन्धों पर आधारित होता है । सत्तायुक्त व्यक्ति के आदेश मुख्य रूप से दो आधारों पर वैध माने जाते हैं—प्रथम परम्परायें ही आदेशों को निर्धारित करती हैं कि किस सीमा तक आदेश दिये जा सकते हैं अथवा माने जाते हैं । यदि इससे अधिक कुछ करने या मनवाने का प्रयास करता है तो उसके परम्परागत पद को ही खतरा हो सकता है । द्वितीय व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र निर्णय की इच्छा में परम्परागत नियम भी कुछ सीमा तक छूट देते हैं । अर्थात एक सीमा तक पद युक्त व्यक्ति को अपनी इच्छा एवं विवेक के अनुसार आदेश निर्देश देने की स्वतन्त्रता होती है । कोई विशिष्ट अथवा वैधानिक नियम नहीं अपितु भूत काल में हुयी घटनाओं के निर्णय ही नियमों का कार्य करते हैं ।

वेबर ने परम्परात्मक सत्ता के तीन रूपों का वर्णन किया है । प्रथम जिसे जिरोन्टोक्रेसी कहा गया है । इसमें पूरे समूह या समुदाय में आयु में सबसे अधिक (सबसे वृद्ध) व्यक्ति या व्यक्तियों के निर्देश अथवा आदेश देने के अधिकार को वैध माना जाता है । समूह या समुदाय के समस्त व्यक्ति उसका आदर करते हैं उसका निर्णय सर्वोपरि होता है । ऐसी सत्ता छोटे समूहों, कबीलों, जनजातीय समूह आदि में पायी जाती है । यह छोटे समूहों तक ही सीमित होती है । अन्य व्यक्तियों की तरह से ही सत्ता पद व्यक्ति समुदाय की सभी क्रियाओं में भाग लेता है जिससे उसे सम्पूर्ण स्थिति का ज्ञान रहता है । वह समूह या समुदाय का सदस्य होता है । उसके आदेश, निर्देश, निर्णय आदि सभी सामूहिक भावना पर ही आधारित होते हैं जिससे सामूहिक, सामान्य परम्पराओं को बनाये रखा जा सके । सत्ता का मुख्य उद्देश्य परम्पराओं को कायम रखना होता है । जिरोन्टो क्रेसी के रूप की परम्परात्मक सत्ता में किसी प्रकार का प्रशासनिक

कार्यालय अथवा नियमित व्यक्ति (स्टाफ) सत्तायुक्त व्यक्ति से नहीं जुड़े होते अपितु सारे का सारा समूह ही उसका अपना अनौपचारिक संगठन होता है।

दूसरे प्रकार की परम्परात्मक सत्ता को वेबर ने पैट्रीआर्कालिग का नाम दिया है। इसमें सत्ता संगठन किसी विशेष आनुवांशिक आधार पर होता है। सत्ता पद वाला व्यक्ति किसी आनुवांशिक नियम के अनुसार सत्ता ग्रहण करता है। जैसे पिता के पश्चात पुत्र अथवा छोटा भाई। इस प्रकार की परम्परात्मक सत्ता में भी किसी प्रशासनिक ढांचे की आवश्यकता नहीं होती। 'अर्थव्यवस्था' पारिवारिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही होती है। सत्ता पद के लिये समूह के सदस्य समान होते हैं। कोई सामान्य नागरिक (सब्जैक्ट) नहीं अपितु सभी सदस्य होते हैं।

तीसरे प्रकार की परम्परात्मक सत्ता को वेबर ने 'पैट्रीमोनियलिज्म की संज्ञा दी। यदि पूर्व की प्रैट्रीआर्कालिज्म में व्यवस्था में सत्ता पद पर आसीन व्यक्ति अपना व्यक्तिगत शासन तन्त्र, विशेष रूप से सेना, विकसित कर लेता है जिसका वह स्वयं सर्वप्रमुख होता है तो परम्परात्मक सत्ता एक नया रूप धारण कर लेती है जिससे व्यक्ति में अधिकतम सत्ता केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार की परम्परात्मक सत्ता को ही वेबर के अनुसार पैट्रीमोनियलिज्म कहते हैं। समूह के सदस्य केवल नागरिक (सब्जैक्ट्स) हो जाते हैं। जो सत्ता समूह के सभी सदस्यों के विश्वास, सहयोग और भरोसे पर आधारित थी वह व्यक्ति की स्वयं शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। वह उसकी स्वयं की धरोहर हो जाती है। इस अधिकतम केन्द्रित सत्ता को वेबर ने सुल्तानिज्म की संज्ञा दी है। सत्ता युक्त व्यक्ति सत्ता का वस्तुओं की तरह शोषण, अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये उपयोग, क्रय-विक्रय करने या सुरक्षा के लिये बंधक करने अथवा वंशानुगत विभाजन करने का अधिकारी हो जाता है ऐसी परम्परात्मक सत्ता को ही, समयान्तर में 'फ्यूडेलिज्म' के नाम से जाना गया।

चमत्कारिक सत्ता

चमत्कारिक सत्ता किसी व्यक्ति के विशिष्ट, अद्भुत गुणों पर आधारित है। इन गुणों के कारण ही उसे वैध माना जाता है। व्यक्ति समूह अथवा सम्प्रदाय या समुदाय का, आन्दोलन अथवा क्रान्ति के लिये, नेतृत्व करना है। यह सत्ता मुख्य रूप से वर्तमान स्थिति में आमूल परिवर्तन के लिये प्रकाश में आती है और चमत्कारिक व्यक्ति के नेतृत्व में उसका प्रयास किया जाता है। उस व्यक्ति के आदेश पर नहीं वरन् निर्देश एवं आह्वान पर पूरा समूह एक जुट हो जाता है। अमुक व्यक्ति की विशिष्ट स्थिति होती है। उसका नारा अथवा आह्वान ही आदेश बन जाता है और व्यक्ति भावात्मक रूप से जुड़कर उसका पालन करते हैं क्योंकि अधिकांश की त्रस्तता को दूर करने के लिये परिवर्तन का आह्वान किया जाता है। संक्षेप में चमत्कारिक सत्ता में—(१) सत्ता युक्त व्यक्ति (चमत्कारिक व्यक्ति) पर सभी का विश्वास होता है। सभी सदस्य उसके निर्देश अथवा आह्वान को वैध मानते हैं तथा यह समझते हैं कि चमत्कारिक व्यक्ति के निर्देशों का पालन करना उनका कर्तव्य है। यह मानसिक विश्वास एवं

कर्तव्यपरायणता अमुक व्यवित के व्यक्तित्व के प्रति समर्पण की सीमांतक होती है। (२) यदि चमत्कारिक व्यक्ति स्वयं को वैस्त प्रस्तुत करते रहने का साक्ष्य निरन्तर नहीं दे पाता तो यह मान लिया जाता है कि उसकी वह विशिष्ट, विलक्षण शक्ति उससे दूर हो गयी है। अत: अन्तत: उसकी चमत्कारिक सत्ता समाप्त हो जाती है। (३) वह समूह या समुदाय, जिसका सर्वोच्च अमुक व्यक्ति होता है, भावनात्मक रूप से एक समुदाय की तरह के सम्बन्धों पर आधारित रहता है। यदि कोई प्रशासनिक स्टाफ जैसी स्थिति या संगठन होता भी है तो वह तकनीकि या वैधानिक एवं प्रशिक्षित अथवा औपचारिक रूप से चयन किया हुआ नहीं होता। इस तरह चमत्कारिक सत्ता रोजमर्रा के प्रशासनिक तन्त्र के परिपेक्ष्य से भिन्न होती है। इन अर्थों में चमत्कारिक सत्ता, वैधानिक एवं परम्परात्मक सत्ता के किसी भी रूप से भिन्न प्रथक होती है। मुख्यतया: क्योंकि ये दोनों सत्ता रोजमर्रा के क्रिया कलापों के संचालन से जुड़ी रहती हैं एव उसका सचालन करती है।

वेबर के अनुसार ऐसी सत्ता का संस्थाकरण अथवा दैविकीकरण समयान्तर में होता रहता है क्योंकि अधिक लम्बे समय तक किसी आन्दोलन को चलाये रखने के लिये कुछ संगठनात्मक ढांचा स्वतः ही तैयार हो जाता है। यदि आन्दोलन को सफलता प्राप्ति हो जाये तो दैनिक गतिविधियों के संचालन के लिये ऐसी आवश्यकता हो जाती है। तथा यदि अमुक आन्दोलन अथवा परिवंतन की प्रक्रिया के चलते रहते चमत्कारिक नेता की मृत्यु हो जाये तो या शारीरिक-मानसिक रूप से अक्षम हो जाये तो दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता हो जाती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये नये व्यक्ति का कई प्रकार से चुनाव किया जा सकता है। (१) चमत्कारिक व्यक्ति नये व्यक्ति स्वयं नाम जद कर देता है ऐसी उसकी आवश्यकता पड़ने से पूर्व किया जा सकता है। (२) नेता के साथ रहने वाले समूह से नये व्यक्ति का चुना जा सकता है। (३) यह समूह किसी सर्व मान्य तरीके से या नियम से नये व्यक्ति को चुना जा सकता है। यहां यह कहना उचित होगा कि यदि दूसरे नेता का किसी नियम, परम्परा अथवा सहमति से चुनाव होता है तो तार्किक रूप से वह सत्ता पूर्ण रूप से सही अर्थों में चमत्कारिक सत्ता नहीं रह जाती बल्कि उसमें कुछ तत्व परम्परागत सत्ता अथवा वैधानिक सत्ता अथवा दोनो के मिले जुले अंश सम्मिलित हो जाते हैं।

चमत्कारिक सत्ता का परिवर्तन

जैसा उपरोक्त तथ्यों एवं चमत्कारिक सत्ता की विशेषताओं से विदित होता है मूलतः यह सत्ता वर्तमान स्थिति में कमियों को जन मानस में उजागर करके उस व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन के उद्देश्य से उभर कर आती है। इस सत्ता का मूलत: सम्बन्ध दैनिक क्रिया कलापों की व्यवस्था के संचालन से नहीं होता। यदि यह केवल क्षणिक एवं परिवर्तनोन्मुख स्थिति से हटकर स्थायी समूह, पार्टी या पार्टी जैसासंगठन या अन्य किसी प्रकार के संगठन का स्वरूप ग्रहण करले तो चमत्कारिक सत्ता आवश्यक रूप से उसके वास्तविक रूप में परि-

वर्तित हो जाती है। यह भी जान लेना चाहिये कि चमत्कारिक सत्ता विशुद्ध रूप में उदगम की स्थिति में ही विद्यमान होती है। समयान्तर में स्थायी रूप से बने रहने के लिए वैधानिक या परम्परात्मक या दोनों का मिलाजुला अंश इसमें सम्मिलित हो जाता है। इस कारण से नियमानुसार वैधानिक सत्ता में परिवर्तन की ओर अग्रसर होती है। निम्न कारणों से मुख्यतया यह परिवर्तन होता हुआ प्रतीत होता है—

(१) चमत्कारिक व्यक्ति के अनुयायियों के आदर्शात्मक या धन प्राप्ति की अभिरुचि एवं समुदाय को बार-बार क्रियान्मुख बनाये रखने की आवश्यकता।

(२) चमत्कारिक सत्ता युक्त व्यक्ति के प्रशासनिक अथवा संगठनात्मक ढांचे में कार्य कर रहे व्यक्तियों को उसे सतत बनाये रखने में अपेक्षाकृत अधिक विश्वास एवं अर्थ सम्बंधी स्वार्थों की पूर्ति। इन समस्त स्वार्थों एव क्रियाओं का खुलकर प्रदर्शन चमत्कारिक नेता के समाप्त होने की स्थिति होता है। विशेष रूप से उसके उत्तराधिकारी के चयन के अवसर पर समस्या उत्पन्न हो जाती है। चयन मुख्य रूप से इस प्रकार से होता है—(क) व्यक्ति के उन विशिष्ट गुणों के आधार पर जो अमुक पद को संभालने के लिये पर्याप्त हो। उदाहरण के रूप में नये दलाई लामा के चयन को इस प्रकार का कहा जा सकता है। किसी ऐसे बालक को खोज निकाला जाता है। उसके विशिष्ट गुण ही उसकी शक्ति की वैधता स्थापित करते हैं अर्थात वह उन्हीं नियमों, आचरण संहिता का पालन करता है। इसका परिणाम होता है कि परम्परा का पालन करने में व्यक्ति का महत्व कम हो जाता है परम्परा अधिक महत्वपूर्ण होने लगती है। एक किन्ही विशिष्ट धार्मिक कथन, आकाशवाणी, दैनिक शक्ति अथवा कुछ विशेष निर्णयों के द्वारा। इस चयन विधि में सत्ता की वैधता व्यक्ति के गुणों से अधिक चयन के तरीके पर निर्भर करती है। इसराइल में किसी समय शैंपटीन का चयन इसका उदाहरण है जिसमें किसी विशिष्ट व्यक्ति ने अपनी आत्मा के लिये चयन स्वयं किया था। (ग) निवर्तमान तो स्वयं ही अपने उत्तराधिकारी का चयन कर दे जिससे उसके अनुयायी अमुक व्यक्ति को अपना शीर्षस्थ मान लें। रोम में धर्माधिकारियों का चुनाव पूर्व शताब्दियों में कुछ इसी प्रकार से होता था। (घ) चमत्कारिक नेता के प्रशासनिक-संगठनात्मक ढांचे के व्यक्तियों द्वारा चयन एवं अमुक व्यक्ति को वैध नेता मान लें। (ङ) चमत्कार का ऐसा आदर्श कि उसे वशांनुगत विशिष्ट गुणों वाला मान लिया जाये। स्वाभाविक रूप से चमत्कारिक नेता के नातेदार को ही उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार को वंशानुगत चमत्कार कहते हैं। इसकी वैधता के लिये उपरोक्त तरीकों में से किसी को भी अपनाया जा सकता है। तथा (च) चमत्कार की यह अवधारणा कि उसका एक व्यक्ति से दूसरे में प्रत्यारोपण किया जा सकता है। किन्ही संस्कारों द्वारा उन्ही विशिष्ट चमत्कारिक गुणों को दूसरे व्यक्ति में उत्पन्न जा सकता है। ऐसी स्थिति वैधता व्यक्ति में न होकर उन विशिष्ट गुणों में आधारित होती है।

प्रथम स्थिति में चमत्कारिक सत्ता पूर्ण रूप से व्यक्ति के विशेष गुणों में आधारित होती

है। इस लिये उसे किसी प्रकार के नियमों संगठन आदि में बंधे रहने की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्ति वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन का द्योतक होता है। यदि वह व्यवस्था के परिवर्तन में सफल हो जाता है तो उसे बनाये रखने के लिये एवं व्यवस्था को चलाने के लिये प्रशासनिक संगठन एवं आर्थिक संगठन स्थापित होते हैं। इस तरह चमत्कारिक सत्ता की अर्थ व्यवस्था नहीं होती' इस परिवर्तित स्थिति में यह विशेषत: गलत सिद्ध होती है। अमुक व्यक्ति के उत्ताराधिकारी का चयन नियमों, परम्परा अथवा अन्य किसी प्रकार से होता है इस प्रकिया में भी विशुद्ध चमत्कारिक सत्ता में परिवर्तन हो जाता है विशेषतया संगठनात्मक प्रशासनिक पक्ष महत्वपूर्ण हो जाता है कुछ स्थायीत्व आ जाता है। अत: किन्ही नियमों का पालन होने लगता है इस प्रकार धीरे-धीरे वैधानिक सत्ता के अंश चमत्कारिक सत्ता में सम्मिलित हो जाते हैं और करिश्चमा वैधानिक सत्ता में परिवर्तनोन्मुख हो जाता है।

वैधानिक सत्ता

वैधानिक सत्ता में आदेश का पालन वैधानिक रूप से स्थापित अव्यक्तिक आदेश पर आधारित होता है। केवल उन व्यक्तियों को ही आदेश देने का अधिकार होता है जो किसी कार्यालय अथवा अधिष्ठान में औपचारिक एवं नियमानुसार कार्यालय की सत्ता के पद पर होते हैं। वह आदेश उनकी औपचारिक प्रशासनिक सत्ता के क्षेत्र में आता है। वेबर के वैधानिक सत्ता के विषय में निम्न विचार प्रमुख हैं—

१. एक वैधानिक नियम किसी सहमति से अथवा इस प्रकार थोपने से स्थापित किया जाता है क्योंकि ऐसा करने से (नियम से) कार्य तार्किक दृष्टि से अथवा तत्परता से होता है तथा अधिष्ठान के सदस्य उसका अनुपालन करने को तैयार होते हैं।

२. वैधानिक नियमों में प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि वे नियम नियमित एवं निश्चित व्यवस्था के लिये सोच समझकर स्थापित किये गये हैं।

३. सत्ता युक्त व्यक्ति का एक कार्यालय होता है। उसकी क्रियायें एक औपचारिक आदेश की ओर उन्मेषित होती हैं जिसका उस पर नियंन्त्रण होता है। इन आदेशों का पालन कर्मचारियों/अधिकारियों द्वारा किया जाता है। यहां तक की किसी चुने हुये शासनाध्यक्ष को भी कुछ औपचारिक नियमों के अनुसार ही कार्य करना होता है।

४. एक अधिष्ठान के सदस्य के नाते ही कोई व्यक्ति किसी सत्ता के आदेश का पालन करता है तथा वह जो पालन करता है वह केवल वैधानिक नियम है न कि अमुक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत इच्छा।

५. आदेश का पालन करने वाला व्यक्ति किसी दूसरे के आदेश का पालन एक व्यक्ति के तौर पर नहीं करता अपितु वह एक अव्यक्तिक आदेश का पालन करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुपालन करने में व्यक्ति सत्ता के तार्किक सीमित क्षेत्र में ही अनुबन्धित होता है।

वेबर के अनुसार तार्किक वैधानिक सत्ता के कुछ मूलभूत प्रकार हो सकते हैं। नियमों एवं सीमाओं में बंधा एक औपचारिक सतत संगठन। इससे किसी के कार्य-अधिकार का एक निश्चित क्षेत्र होता है। वह इकाई जो सत्ता का उपयोग करती है एक प्रशासनिक अंग कहलाती है। इस प्रशासनिक संगठन में ऊंचा नीचा स्तर (हैयराकी) सैद्धान्तिक रूप से मान्य होता है। जिन नियमों से संगठन का संचालन होता है वे तार्किक नियम या तकनीकी नियम होते हैं। संगठन के सदस्य संगठन के प्रशासकीय उत्पादक साधनों के स्वामित्व से सदा अलग रखे जाते हैं। उनकी सेवाओं के लिये उन्हें नकद या किसी अन्य तरीके से पुरस्कृत किया जाता है अर्थात् उनकी सेवा का मूल्य दिया जाता है। किसी भी ऐसे व्यक्ति की अपनी सत्ता स्वयं में परिपूर्ण नहीं होती है। सभी नियम लिखित रूप में बनाये एवं रखे जाते हैं। संगठन के कार्यों का सतत संचालन और लिखित अभिलेखों का एकत्र तालमेल ही कार्यालय होता है जो सभी कार्यों का केन्द्र बिन्दु होता है। वैधानिक सत्ता इस तरह अनेक प्रकार से कार्यान्वित होती है।

मैक्स वेबर इस प्रकार से 'नौकरशाही' या 'अधिकारी तन्त्र' को वैधानिक सत्ता का एक 'आदर्श प्रकार' (आयडियल टाइप) मानते हैं। इसी सन्दर्भ में, इसलिये वेबर ने 'नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताओं या लक्षणों का वर्णन किया है।

१. नौकरशाह व्यक्तिगत रूप से सत्ता से अलग होते हैं। वे केवल 'औपचारिक रूप से ही सत्तायुक्तपद से जुड़े होते हैं।

२. नौकरशाही में विभिन्न कार्यालयों में भी स्पष्ट ऊंच नीच (हैयरारकी) होती है।

३. प्रत्येक व्यक्ति का नौकरशाही में एक निश्चित एवं विशिष्ट कार्य क्षेत्र होता है।

४. नौकरशाहों की भर्ती एक स्वतन्त्र समझौते के द्वारा होती है। यह चयन सैद्धान्तिक रूप में स्वतन्त्र रूप से होता है।

५. व्यक्तियों का चयन एवं नियुक्ति तकनीकि योग्यता के आधार पर होती है।

६. नियुक्त व्यक्तियों को उनके कार्य के बदले वेतन दिया जाता है जिसके साथ उनको पेंशन का भी अधिकार होता है।

७. नियुक्त व्यक्ति कभी भी अपना त्यागपत्र देने के लिये स्वतन्त्र होता है जबकि संगठन किसी विशिष्टि परिस्थिति में ही उनकी सेवायें समाप्त कर सकता है।

८. अधिकतर नौकरशाहों के लिये कार्यालय, संगठन कार्य ही मूल एवं मुख्य व्यवसाय होता है।

९. सेवा की अवधि एवं इस कार्यालय में उसकी उपलब्धियों के आधार नौकरशाह की प्रोन्नति का प्रावधान होता है। परन्तु यह उच्च स्तरीय नौकरशाहों पर भी निर्भर करता है। यह कार्य ही किसी नौकरशाह का जीवन भर मुख्य व्यवसाय बना रहता है।

१०. नौकरशाह प्रशासनिक संगठन के उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से अलग रखे जाते हैं। साधनों के स्वामित्व पर उनका कोई अधिकार नहीं होता है।

११. प्रशासनिक कार्यालय को चलाने के लिये, नियुक्त व्यक्तियों को एक निश्चित व नियन्त्रित अनुशासन एवं नियन्त्रण का पालन करना होता है।

नौकरशाही संगठनों में इन नियमों का अधिकांश रूप से पालन किया जाता है किन्तु पूर्णरूपेण नहीं क्योंकि कुछ संगठनों में सर्वोच्च पद पर व्यक्ति का चुनाव किया जाता है न कि स्वतन्त्र नियमानुसार नियुक्ति। जैसे कम्पनियों के निदेशक मण्डल के अध्यक्ष, अवैतनिक निदेशक आदि नौकरशाही संगठन के सर्वोच्च पद पर होते हैं परन्तु उनकी नौकरी आदि का भुगतान एक पूर्णकालिक नौकरशाह या अफसर की तरह से वेतन के रूप में नहीं होता है।

नौकरशाही का वास्तव में अर्थ ज्ञान के आधार पर नियन्त्रण करने से है। परन्तु कुछ स्थानों पर यह भिन्न तरह का होता है जहां अधिकारी चुने जाते हैं न कि नियुक्त किये जाते हैं। ऐसे संगठनों में इन उच्च अधिकारियों के सचिव अथवा सहायक कार्यकुशल एवं अनुभवी होते हैं जिससे सर्वोच्च अधिकारी तकनीकि कुशलता की भरपाई हो जाती है। वेबर के अनुसार इस प्रकार के संगठन सामाजिक जीवन के अधिकाधिक क्षेत्रों में होते हैं। यह पश्चिमी देशों में चर्च, सेना, आर्थिक संगठन, राजनैतिक पार्टियों, निजी संगठनों, क्लब संगठनों आदि सभी में पाये जाते हैं। किसी प्रकार के समाज चाहे वह पूंजीवादी, प्रजातन्त्र, साम्यवादी, विकसित, विकासशील अथवा कमविकसित हों, सभी में इस प्रकार का अधिकारी तन्त्र देखने को मिलता है। आधुनिक समाज में तो अधिकारी तन्त्र या नौकरशाही हर देश के समाज का मुख्य संगठनात्मक अधिष्ठान होता है। यही तन्त्र समाज की व्यवस्थाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिये उत्तरदायी होता है।

नौकरशाही : वेबर के पश्चात् प्रमुख अध्ययन : आर० के० मर्टन

एक अमेरिकी समाजशास्त्री रोबर्ट किंग मर्टन[3] ने अपने अनेक महत्वपूर्ण लेखों जिनमें दो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—"ब्यूरोक्रेटिक स्ट्रक्चर एण्ड पर्सनालटी" या "रोल आफ इन्टलैक्चुवलस् इन पब्लिक ब्यूरोक्रेसी", में वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही अथवा अधिकारी तन्त्र के सिद्धान्त का बीसवीं सदी के परिपेक्ष्य में तार्किक विश्लेषण किया है। मर्टन ने वेबर की 'नौकरशाह' के प्रकार्यात्मक पक्ष के साथ-साथ अकार्यात्मक पक्षों को उजागर किया। मर्टन के अनुसार एक औपचारिक तार्किक रूप से संगठित संरचना में एक स्पष्ट परिभाषित कार्य का तरीका होता है जिसमें एक क्रमबद्ध सामाजिक स्थितियां होती हैं, अनेक अधिकार एवं कर्त्तव्य निश्चित एवं सीमित नियमों द्वारा परिभाषित होते हैं। ऐसे प्रकार का कोई भी औपचारिक संगठन एक विशेष दायित्व को निभाने के लिये आयोजित किया जाता है। सत्ता, जिसे मर्टन नियन्त्रण की शक्ति कहते हैं और वह विशेष सामाजिक स्थिति से आती हैं, एक औपचारिक प्रास्थिति में होती है न कि किसी विशेष व्यक्ति में जो वह भूमिका का प्रतिपादन

करता है। विभिन्न अधिकारिक कार्यालयों के बीच परस्पर सम्बन्ध औपचारिकता से बंधे होते हैं जिनके अधिकारियों में एक निर्दिष्ट सामाजिक दूरी बनाये रखी जाती है। सत्ता के अधिकार के वितरण में एक समन्वित व्यवस्था एवं औपचारिकता, परस्पर संघर्ष को कम करती है। सम्पर्क के सीमित होने से, जो नियमों द्वारा संचालित होता है, संघर्ष कम होने की सम्भावना रहती है। औपचारिकता के कारण परस्पर अन्तःक्रिया बनी रहती है चाहे उन सामाजिक प्रास्थिति में प्रतिष्ठित व्यक्तियों की अपनी व्यक्तिगत अभिरुचियां कैसी भी क्यों न हों। इस प्रकार से कोई भी मातहृदाया अधीनस्थ (सबोर्डिनेट) अपने अधिकारी के निरंकुश कोपभाजन (आर्बीट्रेरी एक्शन) से बचा रहता है क्योंकि दोनों की ही क्रियायें निश्चित नियमों द्वारा नियन्त्रित रहती हैं।

वेबर से भिन्न मर्टन के अनुसार नौकरशाही के केवल प्रकार्यात्मक पक्ष पर ही वेबर ने जोर दिया जबकि इनके अन्तःद्वन्द्वों और तनावों की ओर ध्यान नहीं दिया। इस परिपेक्ष्य में मर्टन ने मुख्य रूप से नौकरशाही के अकार्यात्मक पक्षों, मुख्य रूप से प्रशिक्षित अक्षमता (ट्रेन्ड इन केपेसिटी) एवं व्यवसायिक मानसिकता (ओक्यूपेशनलसाइकोसिस) के प्रत्ययों द्वारा समझने का प्रयास किया। प्रशिक्षित अक्षमता व्यक्ति की ऐसी स्थिति को दर्शाती है जिसमें व्यक्ति की योग्यतायें ही उसकी अपरिपूर्णता या काले बिन्दुओं की तरह कार्य करने लगती हैं। प्रशिक्षण तथा पूर्ण अनुभव नये वातावरण में अक्षम हो जाते हैं। 'व्यवसायिक मानसिकता' ऐसी स्थिति को दर्शाता है कि व्यक्ति अपने दैनिक कार्य को ही व्यवसाय की इति समझकर उतने तक सीमित रह कर अपनी सीमाओं में बंधा रहने लगता है।

नौकरशाही की अपनी संरचना लगातार नौकरशाहों पर वैधानिक रहने और अनुशासन वद्ध रहने के लिये दबाव बनाये रखती है। प्रशिक्षित अक्षमता की स्थिति इस प्रकार के संरचनात्मक पक्षों के कारण ही उत्पन्न होती है। प्रभावी नौकरशाही में विश्वसनीयता और नियमों के पूर्ण प्रतिपालन आवश्यक होता है। द्वितीय इन नियमों के पूर्णतः पालन का फल यह होता है कि ये नियम स्वयं में पूर्ण सिद्ध हो जाते हैं। यही स्थिति विशिष्ट परिस्थितियों में तत्परता में बाधक सिद्ध होती है विशेष रूप से उनके संचालन में जिन्होंने स्वयं इन नियमों का निर्माण नहीं किया होता है। इस प्रकार से वही तत्व जो सुचारु व्यवस्था को सक्षम बनाने में सहायक होते हैं विशेष परिस्थिति में अक्षमता की स्थिति उत्पन्न करते हैं। अव्यक्तिक सम्बन्धों पर बल होने से नौकरशाही संरचना में प्रशिक्षित अक्षमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। नौकरशाह या अधिकारी, चाहे उसकी ऊँची या नीची कोई भी स्थिति हो वह सम्पूर्ण संरचना की सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। क्योंकि वह अव्यक्तिक या परोक्ष तरीके से जनता से सम्बन्धित होता है जबकि जनता का व्यक्ति व्यक्तिगत व्यवहार की अपेक्षा करता है अतः कुछ तनाव उत्पन्न हो जाता है। नौकरशाही की संरचना एक द्वितीयक समूह की होती है जिससे कुछ कार्यों को पूर्ण किया जा सके जो प्राथमिक समूह जैसे सम्बन्धों में पूर्ण नहीं हो सकते। अतः जो व्यवहार इसके विपरीत होता है उसका बहिष्कार किया

जाता है ।

अमेरिका का उदाहरण दकर मर्टन ने दो प्रकार के व्यक्तियों को इस संरचना में भागीदार बताया । प्रथम जो केवल सलाहकार एवं तकनीकी कार्यों को सम्पादित करते हैं तथा द्वितीय—वे जो नौकरशाही से सीधे नहीं जुड़े हैं । इन दो प्रकार के व्यक्तियों—विशिष्ट बौद्धिक वर्ग एवं तकनीकी कार्य करने वाले—में अलगाव उत्पन्न होता रहता है क्योंकि सीधे जुड़े व्यक्तियों को कार्य को सम्पादित करना होता है तथा नीति निर्धारण नहीं करना होता। तथा दूसरों को नीतिपक्ष तो देखना होता है परन्तु वास्तव में तकनीकि रूप से कार्य पूर्ण नहीं करना होता । इस प्रकार से नौकरशाही में कार्यरत बौद्धिक व्यक्तियों में एक 'फ्रसट्रेशन' उत्पन्न हो जाता है ।

पीटर एम० ब्लाऊ[४]

एक अन्य अमेरिकी समाजशास्त्री पीटर एम० ब्लाऊ ने मर्टन के पश्चात् मेक्सवेबर के नौकरशाही अथवा अधिकारी तन्त्र के सिद्धान्त पर आधारित वास्तविक स्थितियों में अनुसंधान किया । ब्लाऊ ने नौकरशाही के प्रकार्यात्मक व अकार्यात्मक पक्षों में कुछ नये आयाम जोड़े । इस सन्दर्भ में ट्रीडाय ने मिक्स आफ ब्यूरोक्रेसी जो उनकी प्रथम मुख्य कृति है । जैसा कि मर्टन ने प्रकार्य और आकार्य में परिणामों के आधार पर, कि वे सामाजिक व्यवस्था में समन्वय बनाते हैं अथवा कम करते हैं, भेद किया । ब्लाऊ के अनुसार नौकरशाही संरचना के अकार्य एवं प्रकार्य में भिन्नता वास्तविक अनुभाविक स्थिति में केवल इतने तक ही सीमित नहीं रहती । ब्लाऊ के अनुसार सामाजिक प्रतिमानों के वे परिणाम जो वर्तमान प्रतिमानों को सामाजिक मूल्यों पर आधारित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता करते हैं प्रकार्य कहते हैं । सामाजिक मूल्यों पर आधारित उद्देश्यों की प्राप्ति में जो परिणाम, वर्तमान प्रतिमानों को परिवर्तित करने में बाधक होते हैं उन्हें अकार्य कहते हैं । सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में ब्लाऊ के अनुसार नौकरशाही संरचना इस प्रकार से एक गतिशील प्रकृति की संरचना है । ब्लाऊ के अनुसार इस गतिशीलता को नौकरशाही के संरचनात्मक परिपेक्ष्य में समझना चाहिये । पूर्णतया विकसित नौकरशाही संरचना तो एक मशीन की तरह हो जाती है । इस विशिष्ट स्थिति में यह अव्यक्तिक हो जाती है । दो संगठनों के आनुभाविक अध्ययन से उन्होंने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि थोड़े से व्यक्तिगत एवं अनौपचारिक सम्बन्धों से नौकरशाही संरचना में व्यक्तियों के मध्य द्वेष घटता है और संगठन का उपयोग करने वाले नागरिक अधिक अच्छा अनुभव करते हैं ।

राइनहार्ड बैन्डिक्स[५]

राइनहार्ड बैन्डिक्स ने यूरोपीय नौकरशाही व्यवस्थाओं के विषय में तीन मुख्य बातों को अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'नेशन बिल्डिंग एण्ड सिटीजनशिप' में बताया है । राजशाहों के

'महल' का कार्यालय' से अलग होना । द्वितीय—विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त न्यायविदों की नियुक्तियां तथा तृतीय—सेना के नियन्त्रकों का (सिविलीयन) अधिकारियों में धीरे-धीरे परिवर्तन । इस पश्चिमी परिपेक्ष्य में दो और मुख्य विशेषतायें—लगातार लम्बे समय तक सतत बने रहना । कानून, न्याय, सरकारी सेवा और व्यक्तिगत सेवाओं, नातेदारी सम्बन्ध एवं सम्पत्ति को अलग करने के लिये केन्द्रीय नियम बनना । इन परिस्थितियों ने नौकरशाही संरचना के आदर्श रूप को और समाज को प्रेरित एवं परिवर्तित किया । वह इन पश्चिमी एवं अन्य विकासशील समाजों की नौकरशाही संरचना में भिन्नता करते हैं । यहां तक साम्यवादी समाज की व्यवस्था को तो वे नौकरशाही संरचना के पश्चात् की स्थिति बताते हैं । (वास्तव में अस्सी (१६८०) के दशक में सभी साम्यवादी देशों में आमूल-चूल परिवर्तन आ चुके हैं पुनः पश्चिमी नौकरशाही संरचना तथा पूंजीवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर हैं) सामाजिक श्रेष्ठ जन और राजनैतिक पार्टी के प्रमुख कार्यकर्ता नौकरशाही संरचना नयी भर्ती में हस्तक्षेप करते हैं अतः केवल श्रेष्ठता एवं खुली प्रतियोगिता, औपचारिक संगठन की दोनों विशेषताओं का उल्लंघन होता है । भारतवर्ष में सत्ता का उपयोग एवं आरक्षण इसी ही श्रेणी में आते हैं ।

विकासोन्मुख समाजों में नौकरशाही व्यवस्था

इस प्रकार के दो अध्ययनों का आर० शंकर[६] एवं जे० के० पुण्डीर[७] ने १६७६ में केवल लेटिन अमेरिका एवं अफ्रीका के ऊपर करने का प्रयास किया । यह छोटे अध्ययन दोनों प्रायदीपों से सम्बन्धित छपे लेखों को आधार मान कर किया ।

लेटिन या दक्षिण अमेरिका के देशों में प्रशासनिक व्यवस्था पड़ोसी उत्तरी अमेरिका की तुलना में अभी कम विकसित है । अभी भी प्रशासनिक व्यवस्था परम्परात्मक कैथोलिक मानसिकता एव वहां की विशिष्ट संस्कृति से ही प्रभावित है । सांस्कृतिक बाध्यतायें जैसे—बैपटिस्ट मानसिकता, जिसके तहत लेटिन अमेरिका के अनेक देशों की व्यवस्था चलती रही है, नौकरशाही की कार्यप्रणाली को प्रभावित करती है । इस मानसिकता को समाज में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है । राष्ट्रीय एकीकरण का अभाव एवं अधिकाधिक अन्य देशों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका पर निर्भरता ने केवल एक सीमा तक की नौकरशाही संरचना को आदर्श रूप में विकसित होने दिया है । वर्तमान परिस्थितियों में वहां का यह ढांचा सही दिशा में परिवतर्नोन्मुख है ।

अफ्रीका के देशों में, कई देश द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् के स्वतन्त्रता प्राप्त देश हैं । कुछ देश फ्रांसीसी एवं कई ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आधीन रहे हैं । अतः अफ्रीका के देशों की नौकरशाही व्यवस्था अपने पूर्व निवेशों के प्रशासनतन्त्र से प्रभावित हुयी है । कुछ तरीकों में जैसे पश्चिमी अफ्रीकी देशों में फ्रांस से प्रभावित स्थिति है तो हिन्द महासागर से लगने वाले पश्चिमी देशों में ब्रिटिश तौर तरीकों का बोल बाला है । फ्रांसीसी तरीके की प्रशासनिक

व्यवस्था में ऊंचे सरकारी अधिकारी ऊंचे राजनैतिक पद ग्रहण कर सकते हैं। कुछ समय पश्चात् वे पुनः अपने अधिकारी तन्त्र में स्थान पा लेते हैं। अन्य देशों में सेना के वर्चस्व के कारण अधिकारियों का राजनीतिक व्यवस्था में उचित स्थान नहीं तय हो पाता। निर्णायक आदेशों में लोकप्रशासन अधिकारियों की महत्वपूर्ण भूमिका संदेहास्पद रही है। विकासोन्मुख एवं परम्परागत मूल्यों में परस्पर संघर्ष की स्थिति भी बनती रही है। अनेक प्रकार की समितियों में सामान्य नागरिकों को भागीदार बनाकर नौकरशाही संरचना के सम्मुख नयी सामाजिक अन्तः क्रियाओं का प्रारम्भ हुआ है। ऐसी प्रक्रियायें राष्ट्र निर्माण एवं आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर हैं। 'चमत्कारिक' व्यक्तियों की 'सत्ता' विभिन्न अफ्रीकी देशों में अभी तक तकनीकी रूप से पूर्ण विकसित नौकरशाही व्यवस्था को स्थापित होने की प्रक्रिया को रोकने में सहायक रही हैं।

भारत में नौकरशाही व्यवस्था के अध्ययन : उदाहरण

यूरोप एवं अमेरिका की तुलना में आधुनिक नौकरशाही व्यवस्था के अध्ययन अपेक्षाकृत नये हैं। इनका आरम्भ भी बहुत देर से हुआ है। विशेष रूप से राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, एवं समाजशास्त्र के विद्यार्थियों ने अनेक अध्ययन किये हैं। भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में नौकरशाही व्यवस्था, मुख्यतया दो कारणों से, केन्द्र बिन्दु बनकर रही है। प्रथम तो नीति निर्माण में उसकी प्रमुख भूमिका एवं द्वितीय नागरिक प्रशासन के प्रबन्ध में। इसलिये ही राजनीतिज्ञों के नौकरशाही व्यवस्था के नियन्त्रण की स्थिति सामने आती है। परन्तु शैक्षिक एवं अनुसंधान के दृष्टिकोण से नौकरशाही की संरचना अधिकाधिक केन्द्रित विषय रहे हैं। नौकरशाही व्यवस्था में विभिन्न व्यक्तियों की स्थिति, उनकी पृष्ठभूमि एवं नौकरशाहों की अन्य व्यवस्थाओं के व्यक्तियों से अन्तः क्रिया पर भी ध्यान दिया गया है। भारत में नौकरशाही व्यवस्था के अक्षम रूप से कार्य करने पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। एक समाजशास्त्रीय अध्ययन के उदाहरण से कुछ तथ्य बताये जा सकते हैं।

एन० के० सिंघी[८], जो राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं, ने एक प्रमुख अध्ययन नौकरशाही व्यवस्था का किया। यह अध्ययन, उनकी पुस्तक 'ब्यूरोक्रेसी-परसन्स एण्ड पोजिशन्स्' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने भूमिका संरचना (role structure), परस्पर अन्तः क्रियाओं एवं सामाजिक मूल्यों के प्रति उन्मेष का राजस्थान के सरकारी तन्त्र में अनुभाविक अध्ययन किया। सैद्धान्तिक स्तर पर वेबर द्वारा नौकरशाही तन्त्र की विशेषताओं को अपना आधार बनाया। 'अकार्य' एवं 'प्रकार्य' को पारसन्स की व्यवस्था एवं उपव्यवस्था के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया। मुख्य निष्कर्ष सारांश में निम्न प्रकार से हैं—

वर्तमान भारतीय नौकरशाही का ढाँचा अधिकांश रूप से दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों तक ही सीमित रहता है तथा राष्ट्रीय विकास के उद्देश्यों को पूर्ण करने के अनुरूप नहीं

है। भारतीय परम्परात्मक समाज की तरह से ही स्तरीकृत जातिव्यवस्था जैसी संरचना नौकरशाही की प्रतीत होती है। सत्ता-उन्मेषित 'श्रेष्ठस्तर के हाथों में ही नौकरशाही की सत्ता एवं निर्णायक भूमिका केन्द्रित है। नौकरशाही व्यवस्था स्तरीकृत एवं उच्च पद प्राप्त की पक्षधर रहती है। नौकरशाही में अधिकारियों ने राजनैतिक नेताओं की प्रभुता की वैधता को स्वीकार कर लिया है। वस्तुत: इसमें कुछ तनाव अथवा विरोध भी हुआ है जिसे परिभाषित लक्ष्यों एवं नौकरशाही के वैध साधनों में अलगाव भी हुआ है। अनौपचारिक सम्बन्धों का एक महत्वपूर्ण स्थान है और व्यवस्था में ये प्रकार्यात्मक हैं। भारत की नौकरशाही में अधिकारी एक जैसी ही सामाजिक पृष्ठभूमि के विशिष्ट स्तर शहर की मध्यवर्गीय समाज के से हैं। सरकारी नौकरशाही उच्चस्तर की सार्वभौमिक प्रक्रिया द्वारा भर्ती किये जाते हैं। अकार्यात्मक दृष्टिकोण सरकारी की तुलना में प्राइवेट नौकरशाही में कम है। तकनीकि विशेषज्ञ प्रशासनिक मुद्दों में अविशेषज्ञ की अपेक्षा अधिक दुखी/खिन्न (deprived) अनुभव करते हैं।

श्यामाचरण दुबे (१९७४) के अनुसार भारत में नौकरशाही ने राष्ट्र निर्माण में मुख्य भूमिका निभाई। परन्तु कुछ समस्याओं, विशेष रूप से राजनैतिक हस्तक्षेप के कारण अपनी शक्ति एवं प्रतिष्ठा (prestige) को बनाये नहीं रखा जा सका। इसके बावजूद सामाजिक एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया में मुख्य भूमिका निभाई। नौकरशाही व्यवस्था आर्थिक संरचना प्रदत्त करती है, विकास का खाका (ब्लू प्रिंट) बनाती है एवं परिणामों की प्रगति एवं मूल्यांकन करती है। दुबे के अनुसार नौकरशाही व्यवस्था के चार प्रमुख गुण—क्षमता, भविष्यवाणी करने में सहायक, औपचारिक एवं तत्परता, भारतीय सन्दर्भ में संचालित नहीं होतें। भ्रष्टाचार एवं भाई भतीजा वाद का प्रभाव हुआ है जिसे सामान्य समाज में गिरते सामाजिक मूल्यों से वैधता मिली है। इस प्रकार से भारत की नौकरशाही व्यवस्था अपनी विकास प्रक्रिया एवं विशिष्ट विशेषताओं को दर्शाती है। विभिन्न समूह विशेष के आरक्षण जैसे मुद्दे ध्यानाकर्षित करते हैं जो सार्वभौमिक प्रक्रिया के विपरीत है अत: अनेक समस्यायें नौकरशाही में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था के लिये चुनौती उत्पन्न करती हैं। योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन में व्यवधान अथवा कम से कम गति अवरोधक की तरह से भारतीय नौकरशाही व्यवस्था ने काम किया है।

उपरोक्त विवरण एवं विवेचन से वेबर के सत्ता के सिद्धान्त को कुछ सीमा तक समझा जा सकता है।

सन्दर्भ सूची

१. चौहान, बृजराज, १९६७ : "फेज़ेज़ इन रूरल पावर स्ट्रक्चर एण्ड लीडरशिप इन राजस्थान" एल० पी० विद्यार्थी (सम्पादक) **लीडरशिप इन इन्डिया**, बाम्बे, एशिया।

२. वेबर, मैक्स, १९४७ : **दी थ्योरी आफ सोशल एण्ड इक्नामिक आर्गेनाइज़ेशन**, न्यूयार्क, दी फ्री प्रेस।

३. मर्टन, रॉबर्ट किंग, १९६८ : **सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर**, नयी दिल्ली, अमरिंद।

४. ब्लाऊ, पीटर एम०, १९५५ : **दी डायनेमिक्स आफ ब्यूरोक्रेसी**, लंदन, शिकागो प्रेस।

५. बैंडिक्स, राइनहार्ड, १९७४ : **नेशनल बिल्डिंग एण्ड सिटीज़नशिप**, नई दिल्ली, विले।

६. शंकर, आर०, १९८८ : "ब्यूरोक्रेसी इन लेटिन अमेरिका" सेमीनार पेपर, जे० के० पुण्डीर **उपरोक्त** (६) में उद्धृत।

७. पुण्डीर, जगदीशकुमार, १९८८ : "ब्यूरोक्रेसी इन अफ्रीका" सेमीनार पेपर, जे० के० पुण्डीर **अंडर स्टैंडिग सोशल सांइस कनसैप्टस्** में प्रकाशित।

८. सिंधी, एन० के०, १९७४ : **ब्यूरोक्रेसी-परसन्स् एण्ड पोजीशनस्**, नई दिल्ली, कानसेप्ट।

९. दुबे, श्यामाचरण, १९७४ : **कन्टैम्परेरी इंडिया एण्ड इट्स माडर्नाइज़ेशन**, नई दिल्ली, विकास।

छत्तीसगढ़ के राउत नाच : एक मानव वैज्ञानिक अध्ययन

अनिल किशोर सिन्हा

छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश राज्य के पूर्वी भाग में स्थित है। इसका अक्षांशीय विस्तार १६° ४७' से २३°०७' उत्तरी अक्षांश तथा देशांशीय विस्तार ८०°१७' से ८२°५२' पूर्वी देशांश है। यह ६६,१७३ वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में अवस्थित है, जो राज्य के कुल क्षेत्रफल का १५.३७ प्रतिशत है। इसके अन्तर्गत रायपुर, दुर्ग, राजनांदगांव, बिलासपुर एवं रायगढ़ जिला (जशपुर तहसील को छोड़कर) आते हैं। १६८१ के जनगणनानुसार यहां की कुल आबादी १,००,६६,६२१ है जिनमें पुरुष ५०,४८,८३६ एवं महिला ५०,४७,७८५ हैं। मध्यप्रदेश की कुल जनसंख्या का १६.३५ प्रतिशत जनसंख्या यहां निवास करती है। छत्तीसगढ़ में साक्षरता का प्रतिशत लगभग ३० है। यहां अनुसूचित जातियों की जनसंख्या १३,६४,६७३ है, जो कुल जनसंख्या का १३.८१ प्रतिशत है।

छत्तीसगढ़ प्राचीनकाल में कोशल, दक्षिण कोशल, महाकोशल, महाकांतार, दण्डकारण्य आदि के नाम से जाना जाता था। लम्बे समय तक यहाँ का शासन हैहयवंशी राजपूतों ने किया। इस क्षेत्र का यह नाम कब और क्यों पड़ा, इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। "छत्तीसगढ़" नाम सुनने या पढ़ने के पश्चात् स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि इस नामकरण का मूल आधार गढ़ी की संख्या है। इस प्रदेश में ३६ किले स्थित थे, जिसके कारण इसका नामकरण "छत्तीसगढ़" हुआ। १००० ईसा पूर्व हैहयवंशी राजा सूरदेव ने रतनपुर को और राय बहमदेव रायपुर को अपनी राजधानी बनाया। १७४१ के आस-पास मराठों ने आक्रमण करके इस प्रदेश पर लगभग १८५३ तक शासन किया। १८५३ से यहाँ का शासन अंग्रेजों द्वारा संचालित होने लगा। इसी दौरान सर्वप्रथम रायपुर, बिलासपुर एवं दुर्ग जिले बने। स्वतन्त्रता के बाद नये जिलों का पुनर्गठन हुआ।

छत्तीसगढ़ के पूरब में उड़ीसा, पश्चिम में विदर्भ के भण्डारा और चांदा जिले, उत्तर में

डा० अनिल किशोर सिन्हा, व्याख्याता, सामाजिक मानव विज्ञान एवं आदिवासी विकास विभाग, गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (म० प्रदेश)

बिहार और उत्तर प्रदेश, दक्षिण में आन्ध्र प्रदेश की सीमाएं तथा उत्तर पश्चिम में बालाघाट, मण्डला; शहडोल तथा सीधी जिले अवस्थित हैं।

मानव स्वभावतः कला का उपासक होता है। नृत्य कला, संगीत कला, शिल्प कला, ललित कला, चित्रकला आदि उसके भावगम्य गहन अनुभूति के बाह्य चित्रण एवं अभिव्यक्ति के विविध कलात्मक, रसात्मक माध्यम हैं। कलाओं में वह शक्ति छिपी रहती है जो सबको सहसा अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

देव-भूमि भारत की शस्य-श्यामला हरित नमित पुण्यधरा के क्रोड़ में कोटिश जातियां आनन्द से, उमंग से उछलती-कूदती दिखाई देती हैं। इस विशाल देश में हजारों जातियां अपने-अपने पर्व-उत्सव मनाती हैं। वर्ष भर यहां पग की चपलता, नृत्य, गीत का स्वर संगम होता रहता है। इस पुण्य धरा पर अनेक पर्वों में से "राउत नाच पर्व" ने अपना विशेप गौरवपूर्ण स्थान बनाया है। इतिहास में प्रसिद्ध पुराण पुरुष श्रीकृष्ण काल की ऐतिहासिक विजय को यादव जाति वीरोचित सम्मान के साथ "राउत नाच" पर्व के रूप में तद्युग से मनाती चली आ रही है। ग्राम्य संस्कृति में मनाए जाने वाले शताधिक पर्वों में से अपने व्यवहार, चरित्र व लग्नशीलता के कारण यह पर्व विशेष गौरवमय पर्व के रूप में विख्यात है। इस पर्व का समाज पर इतना अधिक प्रभाव है कि यह राउत जाति ही नहीं, वरन् समाज की प्रत्येक इकाई को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

नयनाभिराम प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा से मंडित हरित पूरित धन-धान्य से सम्पन्न "धान का कटोरा" उपाधि से सुशोभित स्वनामधन्य छत्तीसगढ़ की पावन धरा स्वयं में तीर्थ तुल्य है। तीर्थ में जिस प्रकार कोई भेद-भाव नहीं रहता, सब एक-दूसरे के समीप आते हैं, रहते हैं, उसी भाँति यह धरा अपने शस्य आँचल के नीचे मानव जातियों का इतिहास समेटे हुए है। इस आँचल के नीचे अंचल की विशिष्ट लोक-कला, लोक संगीत और लोक नृत्य (करमा, ददरिया, बांस गीत, डडा गीत, देवार गीत, सुआ नाच, पंथी नाच पंडवानी, आदि) ने इस क्षेत्र के पठार और मैदान में, गाँव के अखरा में, शहर की गलियों व बाजारों में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ रखी है। राउत जाति का नृत्य सर्वोपरि नृत्य के रूप में ग्राम्यांचल व शहरी क्षेत्र में विख्यात है। छत्तीसगढ़ में और भी नृत्यों की परम्परा जीवित है। पर काल की दृष्टि से राउत-नृत्य को सबसे पुरातन नृत्य माना गया है। यह नृत्य पर्व देवउठान एकादशी अर्थात् कार्तिक माह के शुक्ल पक्ष की एकादशी से लेकर, पूस माह की पूर्णिमा तक मनाया जाता है। राउत नाच सूर्यास्त के समय से आधी रात बीतने तक चलता रहता है। उक्तावधि तक चलने वाले इस नृत्य महोत्सव में, राउत नर्तक विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण से सुसज्जित, अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र हाथ में संभाले हुए, वाद्य यंत्रों को उन्मत्त कर देने वाली गड़वा बाजा की ध्वनि ताल के साथ दल के दल एक साथ नृत्य करते हुए गांव-शहर की परिक्रमा करते हैं।

राउत जाति

छत्तीसगढ़ में विभिन्न जातियां निवास करती हैं। इन जातियों में राउत जाति अपनी विशेषताओं के कारण अलग महत्व रखती है। राउत जाति अन्य जातियों की तरह अलग अलग क्षेत्रों में आकर छत्तीसगढ़ में बस गयी हैं। गो-पालन और दुग्ध व्यवसाय करने वाली इस जाति को यहां के सामाजिक कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

राउत शब्द की व्युत्पत्ति

"राउत" शब्द अपने साथ एक दीर्घ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा लिए हुए है। शब्दकोश में "राउत" शब्द को राजपुत्र मानते हुए राजवंश का कोई व्यक्ति क्षत्रिय वीर पुरुष अथवा बहादुर अर्थ दिया गया है। "राउत" शब्द से मिलता-जुलता "रावत" शब्द भी है, जिसका अर्थ भी छोटा राजा, वीर बहादुर, सेनापति, सरदार बताया गया है। "राउत" शब्द को "राव" से व्युत्पन्न "रावत" का अपभ्रंश माना गया है। "राउत" शब्द की व्युत्पत्ति व अर्थ की ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोचारण एवं दुग्ध-दोहन की वृत्ति लिए हुए राउत-जाति पहले राज्य का संचालन करती रही होगी और राजवंशी होगी।

जाति नाम

श्रीकृष्ण राउत जाति के आराध्य देव हैं। इन्हें ही राउत जाति के लोग अपना पूर्वज मानते हैं। अतः इनकी कार्यप्रणाली व नामकरण श्री कृष्ण से ही जुड़ा हुआ है। श्रीकृष्ण ने गौ का पालन किया तथा गोपाल कहलाये। अहि (सर्प) को नाथा था इसलिए अहीर कहलाये और वे यदुवंशी तो थे ही। इन सबसे प्रेरित होकर ही राउत जाति के लोग अपने आपको गोपाल, अहीर और यादव मानते हैं। महाभारत युद्ध के पश्चात् यदुवंशी सैनिक, अस्त्र शस्त्र त्यागकर, गो-पालन और दुग्ध व्यवसाय को अपनाकर देश भर में फैल गये। इन्हें देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न जाति नामों से पुकारा जाता है। आंध्र प्रदेश में रेड्डी (गंजाम), यादव गोला (यादव); बिहार में अहीर (गोआला, यादव, गौरा, घोसी और मेंहरास) तथा रौतिया; बम्बई में गोपाल, गावली, गोवली; मध्यप्रदेश में अहीर, गावली, गोपाल, रौतिया, गोसाइन, रावत; मैसूर में रावत वोक्कालिमा (रेड्डी या गंजाम रेड्डी), यादव; राजस्थान में रावत और अहीर; उत्तर प्रदेश में अहीर तथा दिल्ली में घोसी, ग्वाला और अहीर नाम से जाना जाता है। राउतों में साढ़े बारह जातियां[1] होती हैं। राउतों के सामाजिक संस्कार अन्य जातियों की तरह होते हैं।

पर्व व त्योहार

राउत समाज में अनेक पर्व, त्योहार, धार्मिक अनुष्ठान एवं प्रथाओं का प्रचलन है।

हरेली, कन्हैया अष्टमी, दीपावली, एकादशी, कार्तिक पूर्णिमा, मातर-जगना, मड़ई को बड़े उल्लास एवं हर्ष के साथ मनाया जाता है।

समय की परिवर्तनशीलता के साथ राउत समाज में भी विभिन्न परिवर्तन हो रहे हैं। राउत अपनी पारम्परिक संस्कृति को जीवित रखते हुए नवीन संस्कृति को भी आत्मसात कर रहे हैं। उनके नित्यप्रति कार्यों में भी परिवर्तन हो रहे हैं। पहले वे केवल पशुपालन ही करते थे। परन्तु अब खेती की ओर भी ध्यान दे रहे हैं। खान-पान में भी परिवर्तन आया है। समय की आवश्यकतानुसार राउत जाति के लोग शिक्षा की ओर भी ध्यान दे रहे हैं। वे शिक्षित होकर नौकरी प्राप्त करने लग गये हैं। धर्म के क्षेत्र में पुरानी रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वास कम होते जा रहे हैं।

राउत नाच और उसके विभिन्न सोपान

छत्तीसगढ़ का प्रसिद्ध लोक-नृत्य "राउत नाच" राउत जाति की जातिय परम्परा एवं संस्कृति का परिचायक है। इस नाच को छत्तीसगढ़ के कुछ भागों में "गहिरा" या "अहिरा नाच" भी कहते हैं। राउत नाच पुरुषों का नृत्य है। गाँव भर के राउत, परम्परा के अनुसार सुसज्जित होकर मस्ती व जोश के साथ लाठी ऊँची कर नाचने लगते हैं। नृत्य के बीच-बीच में राउत भिन्न भावों से युक्त परम्परागत व मौलिक दोहे भी कहते हैं। नृत्य करते व दोहे कहते हुए राउत अपने मालिकों के घर जाते हैं और अपने नृत्य का प्रदर्शन कर, भेंट के रूप में कपड़े, रुपये व धान प्राप्त करते हैं।

राउत नाच की जब उत्पत्ति हुई थी, तब उसमें कोई व्यवस्थित पद संचालन, वाद्य व क्रम नहीं था। वह हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति के रूप में अंगों का थिरकना मात्र था। परन्तु कालान्तर में इस थिरकन में व्यवस्थित रूप में एकरूपता लिए हुए अंगों का संचालन हुआ और क्रमबद्ध प्रक्रिया का निर्माण हुआ। राउत नाच में, प्रथम सोपान "अखरा" से लेकर अंतिम सोपान "बाजार परिभ्रमण" तक को क्रमबद्ध रूप से पूरा किया जाता है।

राउत नाच का उद्भव

राउत नाच के उद्भव विषय में अभी शोध होना शेष है। इसके उद्भव के संदर्भ में सर्व सम्मत राय का अभाव है।

राउत जाति के आराध्य देव श्रीकृष्ण राउत जाति के प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित हैं चाहे जाति का नामकरण हो, व्यवसाय हो, या उत्सव हो "राउत नाच" राउत जाति का प्रमुख उत्सव नृत्य है। इस नृत्य के उद्भव से संबंधित जो भी पौराणिक कथाएं हैं, उनमें मुख्य नायक श्रीकृष्ण ही हैं। अतः कृष्ण ही राउत नाच के जनक हुए।

राउत नाच के उद्भव के सम्बन्ध में कई पौराणिक कथाएं प्रचलित हैं। श्रीकृष्ण व इन्द्र के द्वन्द्व से संबंधित कथा में यह वर्णित है कि पौराणिक काल में देवराज अपनी पूजा के लिए लोगों को बाध्य करते थे। श्रीकृष्ण ने गोकुल के गोप-ग्वालों को इन्द्र की पूजा न कर, गोवर्धन पर्वत की पूजा करने को कहा, क्योंकि गोवर्धन पर्वत से गायों के लिए चारा मिलता था। ग्वालों ने कृष्ण के कहे अनुसार गोवर्धन पर्वत की पूजा की। इस पर इन्द्र अपमानित हो क्रोधित हो उठे और यदुवंशियों को तरह-तरह से प्रताड़ित करते हुए भीषण जल वृष्टि की। गोकुलवासी भयभीत होने लगे तब श्रीकृष्ण ने उनको पर्वत की कंदराओं में शरण लेने को कहा, जिससे सभी सुरक्षित हो गये। अंत में इन्द्र हताश हो वापस चले गये। इस पर सभी ग्वालों व गोकुलवासियों ने आनंदित हो, अस्त्र-शस्त्र के साथ नृत्य करते हुए अपने हर्ष को प्रकट किया।

श्रीकृष्ण द्वारा कंस का वध करने के पश्चात हर्षोल्लास में जो नृत्य किया गया उससे भी राउत नाच की उत्पत्ति मानी जाती है। अत्याचारों की चरम सीमा देख क्षत्रियों के चन्द्रवंशी कुल के नवयुवक कृष्ण ने अपने सगे मामा निरमोही कंस का राज सिंहासन से घसीट कर वध कर दिया। बुराई उन्मूलन में मानवीय धर्म एवं शौर्य की यह इतनी बड़ी घटना थी कि देश के समस्त चन्द्रवंशी सामूहिक रूप से नाच उठे। सम्भवतः यही राउत नाच के उद्भव का स्रोत है।

राउत नाच के उद्भव के संबंध में यह पौराणिक कथा भी प्रचलित है कि मथुरा नगरी के निकट बहने वाली यमुना नदी के किनारे एक छोटा सा घना जंगल था, जहां ग्वाल-बाल गायों को चराने ले जाते थे, तथा यमुना का जल पिलाते थे। गायों का दूध दुहने के पश्चात् ग्वाले यमुना में दूध के पात्र को धोते थे। पात्र के बचे हुए दूध को यमुना नदी की मोंगरो मछली पी जाती थी। दूध पीने से मछली पुष्ट हो गई और वह नदी में आये गायों के थन से ही दूध पीने लगी, जिससे ग्वालों को दूध मिलना बंद हो गया। अतः वे घबराये। इस संकट को श्रीकृष्ण ने दूर किया। जिससे ग्वाल-बाल प्रसन्न होकर नाचने लगे।

उपर्युक्त पौराणिक कथाओं में से किसी एक कथा को ही राउत नाच के उद्भव का कारण नहीं माना जा सकता। पर यह निष्कर्ष निकलता है कि राउत नाच का उद्भव द्वापर युग में कृष्ण के काल में हुआ। श्रीकृष्ण ने लोगों के कष्टों को दूर किया जिससे लोग हर्षित हो उठे और नृत्य करने लगे। सारे ग्वाल बाल और ब्रजवासी उल्लास प्रगट करने के लिए, उत्सव मनाते। अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र के साथ नृत्य करके खुशी प्रदर्शित करते और एक-दूसरे से खुशी पूर्वक मिलन करते। वही परम्परा वर्तमान में यदुवंशियों द्वारा गोर्वधन पूजा के पश्चात् "रावत नाच" उत्सव के रूप में चिरकाल से चली आ रही है।

प्रश्न यह उठता है कि श्रीकृष्ण के द्वारा कष्ट दूर किए जाने पर मथुरा व ब्रज के ग्वालों द्वारा जो नृत्य किया गया वह छत्तीसगढ़ में कैसे आया? इसका उत्तर राउत जाति के इतिहास से ही मिल जाता है। महाभारत के युद्ध के पश्चात् यदुवंशी सैनिक देश के भिन्न-भिन्न भागों

में जाकर बस गये । कुछ यदुवंशी सैनिक छत्तीसगढ़ में आकर बसे थे, जो राउत कहलाये । वे अपनी सभ्यता व संस्कृति भी साथ लाए । उन्होंने अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण की स्मृति में मनाये जाने वाले नृत्य महोत्सव "राउत नाच" को भी नहीं छोड़ा और इस तरह राउत नाच छत्तीसगढ़ में आकर प्रचलित और प्रसिद्ध हो गया ।

राउत नाच के शृंगार एवं अस्त्र-शस्त्र

राउत नाच एक अद्‌भूत समूह लोक-नृत्य है । इसमें शौर्य एवं शृंगार का अद्‌भुत सामंजस्य देखने को मिलता है । राउत नाच में भाग लेने वाला नर्तक, जहाँ एक ओर एक नर्तकी की तरह शृंगार करता है वहीं एक पौराणिक योद्धा की तरह अस्त्र-शस्त्र धारण करता है। लोक नाच की धुन पर नाचता हुआ वह जिस तन्मयता से पग एवं अंग संचालन करता है, उसी तन्म्यता से वह अस्त्र-शस्त्र भी संचालित करता है ।

शृंगार

राउत नाच के लिये प्रत्येक सदस्य सिर से पैर तक सजता, संवरता है । वह सर में पूरी धोती की (पगड़ी) "पागा" बांधता है, जिस पर गेंदे के फूलों की या रंगीन कागज के फूलों की माला लिपटी रहती है । पागा में वह मोर पंख की बनी कलंगी खोंसे रहता है । मुख में वृंदावन की पीली मिट्टी रामरास लगाये रहता है । आंखों में काजल और गाल पर डिठौनी बनाई जाती है । ठुड्डी पर काज़ल के तीन तिल बनाये जाते हैं । भौंह के बीच, ऊपर की ओर चंदन का टीका लगा रहता है । पांव में कपड़े के जूते, मोजे के साथ गेटिस बांधा जाता है और गैटिस के ऊपर घुंघरू । चड्डी या पैंट के स्थान पर ये चोलना पहनते हैं, जो रंगीन छीटवाले कपड़े का बना हुआ होता है । यह घुटनों के ऊपर तक कसा हुआ होता है । इसके छोर पर फुन्दरे लगे होते हैं । सम्पन्न परिवार के यादव चोलना के स्थान पर बटे कोर की चुस्त धोती पहनते हैं । कमर में ये बड़े घुघरूओं का एक 'बेल्ट" जलाजल बांधते हैं । कमीज के स्थान पर रंगीन कपड़े का पूरे अस्तीन का सलूंखा पहना जाता है और उसके ऊपर रंगीन कपड़े का सलमा सितारायुक्त वास्किट । सीने में योद्धा के कवच तुल्य कौड़ियों की बनी पेटी एवं बांहों में कोड़ियों का बना बहकर बांधा जाता है ।

अस्त्र-शस्त्र

एक हाथ में तेन्दू की लाठी एवं दूसरे में लोहे या पीतल की बनी फरी (ढाल) धारण करते हैं । फरी का एक और प्रकार है बग-डिडौल । यह हिरण के सींग का बना हुआ होता है । कुछ लोग दोनों हाथों में लाठी ही धारण करते हैं । राउत नाच के गोल (दल) में किसी-किसी के हाथों में "गुरुद" नामक एक मारक अस्त्र भी होता है । गुरुद लोहे की एक छड़ जिसकी लम्बाई करीब एक फुट की होती है । जिसके निचले सिरे पर एक रिंग लगा होता है । इस रिंग के लोहे की दो या तीन चैन करीब एक-एक फुट की, नीचे लोहे के गुटके से युक्त

लटकी रहती रहती है। अभ्यास के अभाव में इसे चलाने वाला स्वयं जख्मी हो जाता है लाठी और गुरुद मारक शस्त्र हैं एवं फरी (ढाल), बग-डिर्ज़ले बचाव के अस्त्र हैं।

राउत नाच के अंग-उपांग

आखरा-इसका अर्थ अखाड़े से है जहां अनुभवी प्रशिक्षित, यादव अन्य सदस्यों को शस्त्र चालन और द्वन्द्व करने की शिक्षा देते हैं। बिलासपुर अंचल में अखरा, देवारी प्रारंभ होने से एक माह पूर्व दशहरा के दिन प्रारंभ होता है।

अखरा हेतु गांव के बाहर किसी साफ स्थान पर प्रायः देहात में चारों ओर एक-एक पत्थर गाड़ देते हैं, इसका अर्थ है चार देवों की स्थापना। मैदान के एक भाग में एक लकड़ी का खम्बा "खण्डहर" गाड़ दिया जाता है, जिस पर अस्त्र-शस्त्र टांगा ज.ता है।

राउत अखरा गुरू वैताल को मानते हैं। और दोहे के द्वारा गुरू को सुमरते हैं--

गह महमाया रे मोहबा के, अखरा के गुरु वैताल।
चौसठ जोगनी मोर पुरखा, बहहां मा रहिया सहाय॥

देवाला—यह देवालय का अपभ्रंश है। प्रत्येक राउत के घर के भीतर एक पवित्र स्थल होता है, जहां उनकी लाठी परी आदि रहती है। यहां इनके इष्टदेव का वास होता है। इस स्थल के देव को "दुल्हा-देव" कहा जाता है। इस स्थल से पूजा कर राउत देवारी के लिये शस्त्र धारण करता है, और दोहा पारता है—

सदा भवानी दाहिने, सम्मुख रहे गणेश।
पांच देव रक्षा करें, ब्रह्मा, विष्णु, महेश॥

काछन (देवानुभूति)—राउतों की मान्यता है कि देवाला से शस्त्र धारण करने के बाद, समस्त देवी शक्तियां उस पर सवार हो जाती हैं, इससे वशीभूत हो वह घर के आंगन में नांच रहे अपने साथियों पर बेतहाशा शस्त्र प्रहार करता है, सबको अपना स्वयं बचाव करना पड़ता है। अंत में बह मूर्छित होकर गिर पड़ता है। तब उसके परिजन उसे उठा कर पुनः देवाला में ले जाते हैं। होम-धूप दिखाकर पूजा करते हैं और वह सामान्य हो, गोल में आ अपने साथियों के साथ नाचने लगता है। राउत नाच में इस प्रक्रिया को काछन कहते हैं। काछन सभी राउतों को चढ़ता हो, ऐसा नहीं है।

सुहई—भगवान श्रीकृष्ण का प्रारम्भिक जीवन गो-पालक का था। गोपालन, गोचारण यादव संस्कृति का आधार है। राउत देवारी के समय गोचारण कार्य से अपने को मुक्त रखता है। इस अवसर पर वह एक दोहे के द्वारा गो माता को अपने देवारी आने की सूचना देता है—

बारा महिना चरायेव, खायेव मही न मोरा ।
आइस मोर दिन देवारी, छोड़ेव तोर निहारा ।।

राउत नाच के अवसर पर वे गो माता की पूजा करते हैं । सुहई पलाश की जड़ एवं मोर पंख से तैयार किया जाने वाला एक प्रकार का हार है, जिसे गो माता को पहनाया जाता है । गो माता को सुहई से अलंकृत एवं अबीर गुलाल से उसकी श्रृंगार कर पूजा करते हैं । सुहई बांधने के अवसर पर यह दोहा पढ़ते हैं—

सुहई बनायेव अचरी पचरी, गांठ दियेव हरैया ।
जोस ऐला छोरे, ओल लपट लैय गुरैया ।।

मड़ई—राउत नाच में मड़ई का वहुत पवित्र स्थान है, यह दो अर्थों में प्रयुक्त होता है । एक चलित मड़ई के रूप में और दूसरा किसी स्थान विशेष में, अस्थाई रूप में स्थापित करके । बिलासपुर नगर और उससे लगे गांवों और कस्बों में बाजार बिहाने की परंपरा है । अतः चलित मड़ई ही देखने को मिलती है । मड़ई का निर्मा केवट या गोड़ जाति के लोगों द्वारा, दीपावली के अवसर पर अपने घर में पूजा करने के लिये गोंदला नामक जंगली पौधे से होता है । और जब गांव में राउत नाच प्रारम्भ होता है तब मड़ई का निर्माणकर्ता गोले के मुखिया राउत के पास जाकर उसे आमंत्रित करता है कि उसके घर में मड़ई है, उसे अपने गोल में बाजार बिहाने ले जावे । इस आमंत्रण के बाद गोल के सदस्य बाजार के दिन नाचते हुये उसके घर से ससम्मान मड़ई को लेकर बाजार ब्याहने जाते हैं ।

राउत नाच की ऐतिहासिक परम्परा में मड़ई के इन्द्र के ध्वज की प्रतिक्रिया में श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित ध्वज सी प्रतीत होती है ।

बिलासपुर क्षेत्र में मड़ई का दूसरा रूप ''स्थापित मड़ई'' का प्रचलन विशेष परिस्थितियों में किया जाता है । जैसे यदि किसी अप्रत्याशित कारण से किसी गांव विशेष के यादव ''देवारी'' नहीं मना पाते तो वे बाद में अपने गांव में मातर-मड़ई का आयोजन कर देवारी मना लेते हैं । इस अवसर पर मड़ई को एक स्थान पर स्थापित करके उसे चारों ओर परिक्रमा करते हुये राउत नाचते हैं । बाजार बिहाना एवं राउत बाजार-यह राउत नाच पर्व का चरम बिन्दु है एवं अंतिम सोपान भी ।

शाब्दिक दृष्टि से बाजार बिहाना का अर्थ बाजार व्याहना है । राउत नाच के संदर्भ में बाजार बिहाने की परंपरा को तान्त्रिकों की देन माना जाता है । राउत नाच का प्रत्येक दल अपने-अपने क्षेत्र में साप्ताहिक बाजार के दिन भारी संख्या में, अपनी परम्परागत रंगीन वेशभूषा में, गड़वा बाजा के धुन पर नाचते, शस्त्र चालन का वीरोचित प्रदर्शन करते हुए बाजार की परिक्रमा करते हैं । इस अवसर पर मड़ई में भी रहता है इसे बाजार-बिहाना कहा जाता है, एवं इस दिन के विशेष बाजार को राउत बाजार कहते हैं ।

अंचल का सबसे बड़ा राउत बाजार बिलासपुर में प्रतिवर्ष प्रबोधनी एकादशी के बाद, दूसरे शनिवार को लगता है। इस राउत बाजार में पाँच हजार से अधिक यदुवंशी नर्तक आते हैं, सौ के करीब गड़वा बाजा के वादक कलाकार एवं ५० हजार से अधिक दर्शकों की उपस्थिति रहती है।

इस दिन नगर का पूरा वातावरण यादवमय हो जाता है। इस दिन बाजार की परिक्रमा करते यादवों की टोलियों को देखते ही सहसा महाभारत काल के सैन्य आक्रमण का दृश्य आँखों के सामने आ जाता है। राउत नाच छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति की अनमोल धरोहर है।

राउत नाच का सामाजिक महत्व

यादव समाज के लिये राउत का दोहरा महत्व है, एक तो यह धार्मिक मान्यताओं से युक्त है एवं दूसरा इसका सामाजिक महत्व है। देवारी के अवसर पर समूह में नाचता हुआ यादव, अपने परचितों, स्नेही जनों, पशुधन के स्वामियों, मित्रों आदि के घरों पर नाचने जाता है। चाहे वे किसी भी धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय अथवा जाति के क्यों न हों, जिनसे उनका साल भर किसी प्रकार का संबंध रहता है, उनके घरों पर ये नाचने जाते हैं, अपरिचितों के घर नहीं।

राउत नाच में नर्तक दल के सदस्य यदि राउत जाति के होते हैं, तो वादक दल के सदस्य आदिवासी गड़वा (गंधर्व) जाति के। मड़ई बनाने वाले केवट या गोंड़ जाति के आदिवासी होते हैं। ये जिनके घर नाचने जाते हैं, उसमें समाज के सभी वर्ग जाति के लोग होते हैं। इस तरह यह पौराणिक सामाजिक एकता का एक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह एक परम्परा का रूप धारण कर चुका है।

जैसे ही ये अपने किसी परिचित के घर पर नाचने जाते हैं—प्रायः वह सदस्य जिनसे वह संबंधित है-हों-हो करके बाजा रुकवाता है और दोहा पारता है।

> अइसन झन जानबे ठाकुर, कि अहिरा डाड़े आय हो।
> बरीक दिन के पावन मा मुख दर्शन बर आय हो॥

और फिर बजने लगता है—गुद गुदख़म गुद गुदख़म—

लालित्य से भरे इस नृत्य में दोहों का प्रमुख स्थान है। जीवन दर्शन को व्यक्त करने के लिये तुलसी, सूर, कबीर एवं रहीम के दोहे प्रयोग में लाते हैं। जिसके घर ये नाचते हैं, उनकी मंगल कामना ये दोहों के माध्यम से करते हैं। ये आशु कवि होते हैं। इनके दोहे पैने और सटीक होते हैं। ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों से लेकर सामाजिक विद्रूपताओं का चित्रण इनके दोहों में मिलता है। इन दोहों में छंद की शिथिलता देखने को मिलती है, ये भाव प्रधान होते हैं।

लीपे पोते अंगना, औ पांच दिये ठहनाय ।
कन्हई गये कवर्धा, घर रोवय यशोदा माय ।।

इनके नाच से प्रसन्न हो गृह-स्वामी इन्हें उपहार स्वरूप नारियल, धोती, रुपये पैसे भेंट करते हैं । भेंट ग्रहण कर ये गृह-स्वामी के प्रति दोहे के माध्यम से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं एवं शुभ कामना व्यक्त करते हैं ।

जइसे मालिक लिये दिय, वइसे देवो अशीस ।
अन्न धन तुंहर घर भरैं, जुग जीवो लाख बरीस ।।

या

वृन्दावन के कृष्ण कन्हैया, फिर फिर देय अशीस ।
जनधन से घर भरय, जुग जीवो लाख बरीस ।।

लगातार अबाध गति से चलने वाले इस नृत्य में दोहों का क्रम बीच-बीच में चलता ही रहता है, दोहों का यह आंशिक विराम विश्राम भी देता है ।

काठ के कठपुतरी, और रेशम लगा दे डोर ।
नाच करा दे गलियन मा, देख्य शहर के लोग ।
अहिरा खड़ा बाजार में, लिये दू लाठी हाथ ।
जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ ।।
चित्रकूट के घाट में, भई संतन की भीर ।
तुलसीदास चंदन घिसैं, तिलक देय रघुवीर ।।
सदा तरैया न बन फूले, और सदा न सावन होय ।
सदा न माता गोद रखे, सदा न जीवैं कोय ।।
बाजत आवैं बांसुरी, उड़त आवै धूल ।
नाचत आवैं नन्द कन्हैया, खोंचे कमल के फूल ।।

ग्राम देवता के स्थान पर ये इस दोहे का उच्चारण करते हैं—

यही लंग के ठइयां मुइयां, नाव नई जानव तोर ।
कच्चा दूध मा चरण पखारी, पइयां लोगो तोर ।।
डाट गये बजार गये, उहां ले लाये नोनी ।
खटिया तरी देखेन तो, खसखस ले नीनी ।।

निष्कर्ष

परम्पराएं सभी जातियों की अनमोल धरोहर होती हैं । इनमें उनका इतिहास, संस्कृति, धर्म, सभ्यता सभी कुछ समाहित रहता है । छत्तीसगढ़ का राउत-समाज अपनी प्राचीन

ऐतिहासिक परम्परा का आज भी पालन कर रहा है। राउत नाच ने छत्तीसगढ़ के लोक-जीवन को आनन्दमय बना कर यहां की लोक-कला को सुरक्षित रखा है तथा लोक-जीवन को प्रकाश, उल्लास और मिठास से भरकर, उसे सही अर्थों में संस्कृति बना दिया है।

राउत नाच में राउत नर्तकों का शृंगार विशेष रूप से होता है। वे मानते हैं कि जितना अच्छा शृंगार होगा, उतनी अधिक आकर्षण शक्ति अद्भुत होगी। राउत नाच के अवसर पर कहे जाने वाले दोहों में विभिन्न भाव छिपे रहते हैं। इस अवसर पर राउत नर्तकों को अपनी आत्माभिव्यक्ति करने की पूरी छूट रहती है। अतः वे व्यंग्य करने से नहीं चूकते। दोहों में राउत नर्तक अपने जीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित कर यथार्थ स्थिति से सभी को अवगत कराते हैं। राउत आशु कवि की तरह तुरन्त ही दोहे बनाने में भी कुशल होते हैं तथा दोहे कहकर समाज की दिशा निर्देश भी देते हैं। राउत नाच ऐसा नृत्य है जिसमें शृंगार रस और वीर रस का अद्भुत संगम है। अपनी विशेषता और आयोजन की विशालता के कारण राउत नाच ने छत्तीसगढ़ के लोक-नृत्यों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। इसमें निहित मनोरंजन, शिक्षा, विकास एवं सभ्यता की झलक स्पष्ट रूप से लोगों को आनंदित व लाभान्वित करती है। राउत नाच के प्रति लोगों का यह आकर्षण छत्तीसगढ़ की कला और संस्कृति के प्रति उनके अनुराग को प्रदर्शित करता है, जो राष्ट्रोत्थान का एक शुभ चिन्ह है।

संदर्भ सूची

१. कन्नौजिया (कन्नौज), झेरिया (झरना), कोशरिया (कोशल प्रदेश), मगधा (मगध), देश (उत्तर प्रदेश), ढड़होल, मोरथिया (अमरकण्टक), भूमिया, मेनाव, बंधेया, अखेरिया, फुलझेरिया और कंवरई रावतों को आधा गिना जाता है क्योंकि स्त्रियां दूसरी जाति की चुरियाही होती हैं।

निवेदन

कागज, मुद्रण, पोस्टेज और अन्य वस्तुओं के मूल्यों में आशातीत बढ़ोत्तरी के कारण 'मानव' के वार्षिक शुल्क में वृद्धि करने को बाध्य होना पड़ रहा है। आशा है सुधिजन इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपना सहयोग पूर्ववत् बनाए रक्खेंगे।

१६६० से 'मानव' का वार्षिक शुल्क निम्न होगा--

संस्थाओं के लिए स्वदेश में ८० रुपये विदेश में ३० डालर

(सोसायटी के सदस्यों को अर्ध शुल्क पर प्राप्य)

वैयक्तिक शुल्क ६० रुपये विद्यार्थियों के लिए ४० रुपये

—सम्पादक